आज के शहीद

सम्पादक

रतनलाल बंसल

छपवाने वाले—

सेक्रेटरी हिन्दुस्तानी कल्चर सोसाइटी,

४८ बाई का बाग़, इलाहाबाद

पहली बार] सन् १९५६ [क़ीमत ढाई रुपया

कहाँ क्या

समर्पन

हिन्दू-मुस्लिम एकता के पन्थ की सच्ची जोगिन

बहेन अमतुस्सलाम के चरनों में, जिन्होंने नोआखाली
के हिन्दुओं के लिये अपनी जान की बाज़ी
लगा दी थी और जो आज भी दीन दुखी
शरणार्थी भाई बहिनों की सेवा करती
हुई घर घर प्रेम का अलख
जगाती फिर रही हैं.

—सम्पादक

बहन अमतुस्सलाम

बहन अमतुस्सलाम पटियाला रियासत (पंजाब) के एक मशहूर मुसलमान घराने में पैदा हुई थीं मगर अपने खानदानी सुखों को ठुकराकर वह १६३० में गांधी जी के आश्रम में दाखिल हो गईं और तभी से गांधी जी के आदर्शों और अक़ीदों के अनुसार अपना जीवन ढालने में लगी हैं.

बहन अमतुस्सलाम पर बचपन से ही थ्यासाफ़ी का असर पड़ा है और इसलिये वह हर मज़हब की एक सी इज़्ज़त करती हैं. गीता और अंजील की भी उनके दिल में वही इज़्ज़त है जो पक्की मुसलमान होने के नाते क़ुरान की है. रोज़े नमाज़ की वह सख़्ती से पाबन्द हैं पर गीता पाठ भी बाक़ायदा करती हैं.

हिन्दू मुस्लिम एकता को उन्होंने अपनी ज़िन्दगी का एक खास मक़सद बना लिया है. १६४२ में इसी मक़सद के लिये उन्होंने 'इत्तहाद' नाम का एक हफ़्तेवार अख़बार भी निकाला था.

१६४६ में जब नोआखाला में फ़िरक़ेवाराना दंगे शुरू हुए तो बहन अमतुस्सलाम एकता क़ायम करने के लिये वहाँ भी पहुँच गईं. सिरन्दी नाम के गाँव में उन्होंने एकता के लिये ऐसी हालत में उपवास शुरू कर दिया जब कि उन्हें १०४ डिग्री बुख़ार भी था. गांधी जी के सिरन्दी पहुँचने पर और आस पास के देहातों के मुसलमानों के यह वायदा करने पर कि अब कभी उनके ज़रिये हिन्दुओं को नुक़सान न पहुँचेगा, उन्होंने पचीसवें दिन फ़ाक़ा तोड़ा था.

पंजाब में दंगा होने पर अमतुस्सलाम पच्छिमी पंजाब में भगाई हुई हिन्दू सिख बहनों को उनके घर पहुँचाने के काम में लग गईं. रियासत भागलपुर में इस सिलसिले में भी उन्हें उपवास करना पड़ा था.

आज भी आप पंजाब की अभागी और दुखियारी बहनों के उद्धार के काम में लगी हुई हैं.

बहन अमतुस्सलाम

(नवाखाली में हिन्दू-मुसलिम एकता के सिलसिले में रक्खे गये उपवास के पच्चीसवें दिन गांधी जी के हाथों से संतरे का रस पीकर उपवास तोड़ रही हैं।)

एक बात

किताब का नाम और ऊपर की टीप टाप गाहक को खींचती है. वह खरीदने के लिये उसे उठाता भी है पर दाम निकालने से पहले एक पन्ना पलटता ही है. इस किताब का पहला पन्ना ऐसा था कि गाहक समझ जाता कि किताब किस तरह की है. मैं एक पन्ना और लिखकर गाहक को बे मतलब दो पन्ने पलटने के लिये मजबूर कर रहा हूँ. किताब ख़ुद काफ़ी बोलती है, मैं तो रिवाज पूरा कर रहा हूँ.

देश की खातिर लड़ाई के मैदान में जान दे देना, मेरे ख़याल में कुछ आसान है, क्योंकि लड़ाई में लड़ मरने वाले सिपाही का ख़ून गरम होता है. वह बदला लेने के जोश में अपने तन की सुध भूल जाता है. फिर तन का क्या रहना और क्या न रहना. सत्याग्रह में देश की खातिर ठंडे ख़ून वाले भी हथेली पर जान लिये फिरते हैं पर उन्हें भी देश की आज़ादी के बाद ठंडी छाती हो जाने की आशा रहती है. इसलिये वह भी तन की सुध भुला सकते हैं और जान की बाज़ी लगा सकते हैं. इस किताब में शहीदों का ही ज़िक्र है पर वतन की आज़ादी के शहीदों का नहीं. इसमें ज़िक्र है उन शहीदों का जो इनसानी प्रेम शिखा पर कूद-कूद कर अपनी बलि देते हैं, जान चली जाय तो जाय.

इस क़िताब में बलिदानों का एक ऐसा सिलसिला मिलेगा जिसमें समाज भक्त ने ढाल बनने की कोशिश की है, तलवार बनने की नहीं. जिरह बकतर बनने की कोशिश की है, तमंचा बनने की नहीं. समाज के दो दल रूपी डब्बों के बीच टक्कर बनकर पिचकर मरने में उसने अपना और समाज का भला सोचा है, फ़िरक़े वारियत को भड़काने में नहीं. यह किताब क्या है, सच्चे धरमात्माओं की जीवन कहानी है या सच्चे साधुओं की पाक कथा है. यही वह लोग थे जो समझते थे कि राम, रहीम, अल्लाह, ईश्वर, एक ही परमात्मा के नाम हैं. और यह कि दुनिया के सब लोग उसी एक के बंदे हैं और इस नाते भाई भाई हैं. इनमें लड़ाई कैसी. यह दो तन एक जान होने चाहियें. यह न हिन्दू थे न मुसलमान या यह हिन्दू भी थे और मुसलमान भी. यह न बंगाली थे न मद्रासी, न पंजाबी और न गुजराती. या यह कि यह सब कुछ थे यानी हिन्दुस्तानी थे. बस यह इनसान थे या इनसान की शक्ल में देवता थे.

यह वीर थे और वीर पूजा के हक़दार हैं.

आदमी के ओछेपन को धोने में यह किताब गंगा जल का काम देगी.

नई दिल्ली
१-१-४९ } भगवानदीन

सम्पादक का निवेदन

यह किताब 'आज के शहीद' जैसी भी बन पड़ी है, पढ़ने वालों के सामने है. इस किताब को निकालने का असल मन्शा सिर्फ़ यह है कि आज, जब कि फ़िरक़ापरस्ती के ज़हर में डूबे होने की वजह से हम इन्सानियत को भी भूल चुके हैं, तब अपने उन शहीदों की याद ताज़ा कर लें, जिन्होंने इन्सानियत को ज़िन्दा रखने के लिये अपनी क़ीमती जानें दीं और हिन्दू, सिख व इस्लाम मज़हब के नाम पर लगे हुए कलंक को अपने ख़ून से धोकर उसकी अज़मत को क़ायम रक्खा. इन शहीदों की याद हमारी इन्सानियत को उभारेगी और उभरी हुई मौजूदा हैवानियत को दबायेगी, इससे कोई इनकार नहीं कर सकता.

इस किताब को तय्यार करने में आनरेबुल डा० कैलाशनाथ काटजू, गवर्नर पच्छिमी बंगाल, बहिन शकुन्तला चिन्तामनि (कलकत्ता), बहिन ज्ञान कुमारी हेडा (हैदराबाद) ने अपने लेखों के साथ साथ दूसरे शहीदों की जानकारी भेजकर और श्री गंगाप्रसाद 'नाज़ुक' इलाहाबादी, भाई ओम् प्रकाश पालीवाल फ़ीरोज़ाबाद, श्री हरिश्चन्द्र जैन फ़ीरोज़ाबाद व श्री जितेन्द्र कौशिक

ने दूसरी ज़बानों के लेखों का तर्जुमा करके, व इसी तरह के दूसरे काम करके जो मदद की है, उसके लिये मैं बहुत ही अहसान-मन्द हूँ.

किताब निकालने में हिन्दुस्तानी कलचर सोसाइटी के कार्य-कर्ताओं ने और 'नया हिन्द' के भाई 'हुनर' साहब ने भारी मेहनत की है. 'हुनर' साहब को तो मेरे लेखों में जगह-जगह सुधार भी करना पड़ा है, इसलिये पढ़ने वालों को किताब का असल सम्पादक भाई 'हुनर' साहब को ही समझना चाहिये.

किताब में जिन भाई बहिनों के लेख हैं, उनके लिये तो मेरा धन्यवाद है ही. आशा है कि इस किताब को पढ़ने वाले भाई किताब के बारे में अपनी राय और सुझाव लिख भेजने की कृपा करेंगे, जिससे इस किताब का दूसरा एडीशन निकालते वक़्त उनसे फ़ायदा उठाया जा सके.

विजयगढ़ (अलीगढ़)
ता० २७—१—४६

रतनलाल बंसल
सम्पादक

श्री गणेश शंकर विद्यार्थी

उस दिन कानपुर में जैसे आग बरस रही थी.

'अल्लाहो अकबर' 'हर हर महादेव,' 'बजरंग बली की जय' जैसे पवित्र नारों के साथ इन्सानियत का दामन चाक चाक किया जा रहा था. घरों में औरतें सिसक रहीं थीं, बच्चे सहमे हुए थे और बीमार व बेबस लोग घबरा रहे थे.

आज हिन्दुओं को 'हिन्दू धर्म' की और मुसलमानों को अपने 'इस्लाम' की याद जो आगई थी.

राम और कृष्ण के अनुयायी आज दूधमुँहे बच्चों पर अपनी तलवारें आजमा रहे थे और हजरत मुहम्मद के पैरो बीमार और बेबसों को जिन्दा जला कर 'इस्लाम' का नाम रोशन कर रहे थे. जो पाप और ज़ुल्म आदमी अपनी ख़ुदग़रज़ी के लिये भी नहीं कर सकता, वह सब 'धर्म' और 'दीन' के नाम पर हो रहे थे. और जो यह नहीं करते थे या इनको करने से मना करते थे, वह अपनी क़ौम के ग़द्दार थे, कायर थे, उनको अपने मज़हब का खयाल ही नहीं था.

गुन्डों की बन आई थी, क्योंकि आज वह अपनी क़ौम के 'हीरो' थे. अगर अब्दुल्ला अपने पड़ोसी गौरी की लड़की को लेकर भाग गया था या उसने गौरी की लड़की को बेइज़्ज़त कर दिया था, तो आज मुसलमानों में अब्दुल्ला से ज़्यादा बहादुर कौन हो सकता था? और अगर गौरी ने यही बरताव अब्दुल्ला की बहेन या लड़की के साथ किया था तो

गौरी की बहादुरी की तारीफ़ आज घर घर में होनी ज़रूरी थी. अगर मुक़दमा चले तो दोनों क़ौमें अपने अपने बहादुरों के लिये चन्दा देने को तय्यार हैं. गुन्डों को इससे ज़्यादा और चाहिये ही क्या ?

पुलिस भी खुश थी. सन् १९३० का आन्दोलन हाल में ही बन्द हुआ था और यह ज़माना गान्धी इर्विन समझौते का था. जनता ने समझा था कि हमारी जीत होगई, तभी तो लाट सहाब ने हमारे महात्मा को बराबर की ताक़त मान कर उनसे समझौता किया है. आज तक तो सरकार कहती थी कि हम काँग्रेस को पूरे हिन्दुस्तान की नुमायन्दा जमात नहीं समझते, लेकिन गान्धी ने सरकार की तमाम अकड़ ढीली कर दी. जनता अब पुलिस से डरती नहीं थी.

लेकिन अब वही जनता कैसी दौड़ दौड़ कर पुलिस के पास पहुँचती है. कानपुर के लोगों ने बलवे की जाँच कमेटी के सामने यह बयान दिये थे कि जब बाज़ार में बलवाई दूकानों के ताले तोड़ते थे, तब पहरा देने पर तैनात हथियार बन्द पुलिस के सिपाही मज़े में बैठे बैठे ताश खेलते रहते थे. घरों से बच्चों की, औरतों की चीखें आती रहती थीं और अंग्रेज़ सार्जेन्ट बाहर खड़ा खड़ा किसी अंग्रेज़ी गाने की लै पर मुँह से सीटी बजाता रहता था. कलक्टर के पास फ़ोन किया जाता था कि बलवाइयों ने हमको घेर लिया है, पुलिस भेजो, और अंग्रेज़ कलक्टर दहशत से काँपती हुई उस पुकार के जवाब में हँसता हुआ कहता था कि इस वक़्त गान्धी को याद करो. वही तुम्हारी मदद करेगा .

इस तरह विदेशी अफ़सर उस दिन हमारे देश का, हमारी आज़ादी की लड़ाई का, हमारे सबसे बड़े नेता का अपमान कर रहे थे और जनता बेबस थी.

पर इस अँधेरे में उस वक़्त एक बिजली सी कौंदी और उसकी रोशनी ने जैसे एक रास्ता सा दिखा दिया. जनता ने, मज़लूमों ने और ज़ुल्म करने वालों ने भी देखा कि एक दुबला पतला सा आदमी, नंगे सर, नंगे पैर, उस जलती आग में पागलों की तरह दौड़ता फिरता

आज के शहीद
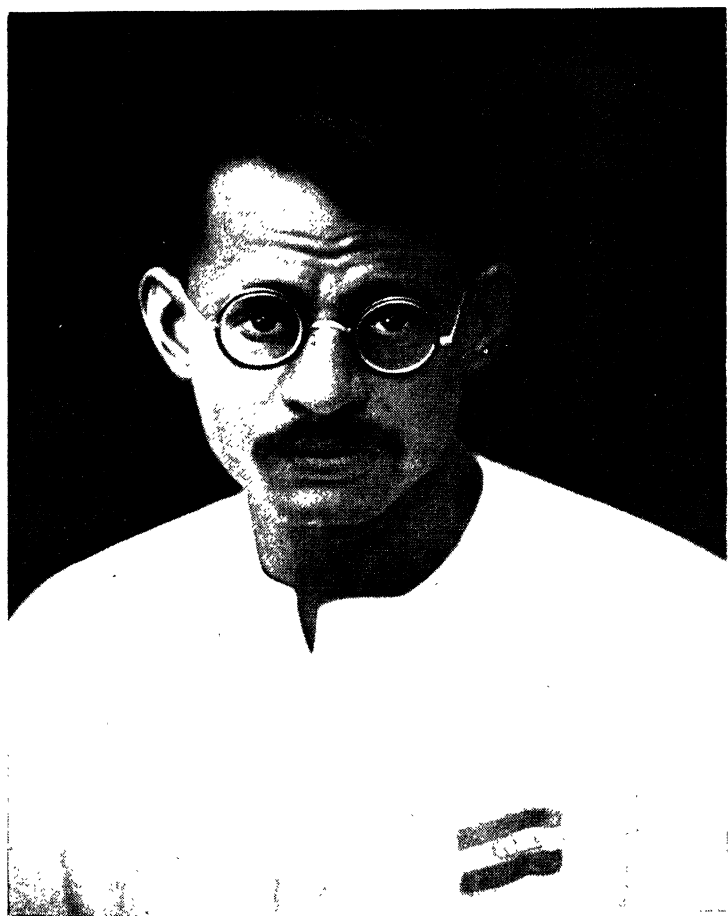
श्री गणेश शंकर विद्यार्थी

है. उसके हाथ में एक छड़ी भी नहीं है, लेकिन वह हत्यारों की भीड़ में बेधड़क घुस जाता है. यह देखो, वह एक मकान के सामने खड़ा हुआ है. ऊपर छत से औरतें, बच्चे और आदमी घबराई और डरी हुई नज़रों से उसकी तरफ़ और उस भीड़ की तरफ़, जो उनके मकान में आग लगाने को तुली हुई है, देख रहे हैं. मकान हिन्दू का है, भीड़ मुसलमानों की है. मुसलमान कह रहे हैं कि फ़लाँ मुहल्ले में हिन्दुओं ने मुसलमानों के इतने मकान जला डाले हैं और जब तक हम इससे दुगने मकान हिन्दुओं के नहीं जला डालेंगे, तब तक चैन नहीं लेंगे. थोड़ी ही दूर पर पुलिस के पाँच जवान बन्दूकें लिये हुए चुपचाप खड़े हैं. उनको गोली चलाने का हुक्म हो नहीं है, इसलिये वह क्या करें. हिन्दू मुहल्लों में आज जो लोग मुसलमानों को मारने जलाने की तय्यारियाँ कर रहे हैं, वह ऐसी खतरनाक जगहों पर झाँकना भी पसन्द नहीं करते. वह तो चारों तरफ़ से घिरे हुए बेबस मुसलमानों की 'सफ़ाई' करने में लगे हुए हैं, लेकिन यह दुबला पतला आदमी ऐसी जगह ही पहुँचता है. मिट्टी के तेल का कनस्तर उसने एक बलवाई के हाथों से छीन लिया है और वह भीड़ से कह रहा है—"मेरे प्यारे भाइयो! ज़रा सोचो तो कि तुम किस मज़हब के मानने वाले हो. क्या 'इस्लाम' यही कहता है? क्या क़ुरान की यही तालीम है? क्या तुम्हारे पैग़म्बर हज़रत मुहम्मद ने ऐसे लोगों के साथ भी दया और मेहरबानी का बरताव नहीं किया, जो उनको क़त्ल करने पर तुले हुए थे?"

भीड़ में से कुछ लोगों पर इसका असर होता है. लेकिन तभी एक जोशीला नौजवान आगे बढ़ कर कहता है—"ज़रा अपने हिन्दुओं की हरकतों पर भी तो ग़ौर करो. पहिले उनको समझाओ, फिर यहाँ आना. अब हट जाओ, वरना......"

"वरना क्या? मुझे मार ही तो डालोगे. तो लो, मेरा सर झुका हुआ है. लेकिन अपने जीते जी मैं तुमको इस्लाम के नाम पर दाग़ नहीं

लगाने दूँगा. मैं हिन्दुओं से क्या कहता हूँ, यह जाकर उस मुहल्ले के मुसलमानों से पूछो. वह तुमको बतलायेंगे कि वहाँ से उनको किसने निकाला है. मुझे हिन्दू मुसलमान से क्या मतलब ? जो बेगुनाहों का ख़ून कर रहे हैं क्या वह भी हिन्दू या मुसलमान हैं ?"

भीड़ ख़ामोश है. ऊपर से सहमे हुए बच्चे और औरतें देख रहे हैं. उनके दिल धड़क रहे हैं. यह कौन है, जिसने उनको मौत के मुँह से उबार लिया है .

"तो अब आप क्या सोच रहे हैं ? आप साफ़-साफ़ बतलाइये कि आपका इरादा क्या है ?" उसने फिर भीड़ से कहा.

भीड़ से कुछ आदमी आगे बढ़ते हैं और मुलायम आवाज़ में कहते हैं— 'आप यक़ीन रखिये, यहाँ अब कोई गड़बड़ नहीं होगी. लेकिन आप हिन्दुओं को भी समझाइये ."

"मैं हिन्दुओं से भी इसी तरह कहता हूँ. वह जो कुछ कर रहे हैं, उसके लिये मुझे शर्मिन्दगी है. आप मेरे सर पर हाथ रखकर मुझे भरोसा दीजिये कि यहाँ के हिन्दुओं की पूरी तरह हिफ़ाज़त होगी ."

"इसका इतमीनान हम कैसे दिलायें ? गुन्डों पर हमारा क्या बस है ! हाँ, आप हिन्दुओं को यहाँ से अभी निकाल ले जायँ, तो हम अपनी हिफ़ाज़त में उनको हिन्दू मुहल्लों में पहुँचा देंगे ."

अब इस मुहल्ले से हिन्दू निकाले जा रहे हैं. वह आदमी चार चार बच्चों को गोद में लिये घिरे हुए हिन्दुओं को हिफ़ाज़त की जगह ले जा रहा है. जो भीड़ आग लगाने पर तुली हुई थी, वही उन हिन्दुओं को हिफ़ाजत की जगह पहुँचा रही है.

भीड़ में से एक आदमी, जो शायद कानपुर में बाहर से आया था, एक दूसरे आदमी से पूछता है—"क्यों भाई ! यह है कौन ? बड़े जीवट का इन्सान मालूम होता है ."

"अरे इनको नहीं जानते ? यह हैं गणेश शंकर विद्यार्थी. 'प्रताप' अख़बार निकालते हैं और यहाँ के कांग्रेसी लीडर हैं. कम से कम

इस आदमी में तअस्सुब नाम को भी नहीं है. मैंने भी सुना है कि इसने बहुत से मुसलमानों को बचाया है."

"अच्छा ?" पूछने वाले ने ताज्जुब से कहा. अब वह सोच रहा था कि सब हिन्दू भी एक से नहीं होते. उनमें कुछ शरीफ़ भी हैं.

और यह हिन्दू मुहल्ला है. सिर्फ़ एक मुसलमान ख़ानदान यहाँ रहता था, इस वक़्त उसी को हिन्दुओं ने चारों तरफ़ से घेर रक्खा है. मुहल्ले के बड़े बूढ़ों ने मना किया, लेकिन उनकी सुनता ही कौन है ? भला धर्म के मामले में भी बड़े बूढ़ों की सुनी जाती है.

ऊपर छत से औरतें चीख़ रही हैं, लेकिन भीड़ हँस रही है. किवाड़ों पर कुल्हाड़े चल रहे हैं. और 'बजरंग बली की जय' के नारे लग रहे हैं. उन बजरंग बली की जय के, जो मुसीबत में घिरी हुई सीता माता के लिये अकेले ही राक्षसों की नगरी में चले गये थे और उनके ही मानने वाले ख़ुद औरतों की इज़्ज़त लूटने को तय्यार हैं.

दरवाजा टूट चुका है. औरतें और बच्चे चीख़ रहे हैं. भीड़ घर में घुसना ही चाहती है कि विद्यार्थी जी यहाँ भी मौजूद हैं. वह दरवाज़ा रोक कर खड़े हो जाते हैं, "मेरे जीते जी तुम ऐसा नहीं कर सकते."

"इन कांग्रेस वालों ने ही हिन्दू जाति का नाश किया है." एक नौजवान बड़बड़ाता है.

"विद्यार्थी जी ! आप यहाँ तो मेहरबानी कीजिये. हमें आपके उपदेशों की जरूरत नहीं है. हमारी माँ बहनों की लाज लूटी जा रही है और आप यह उपदेश देते फिरते हैं. आपको शर्म नहीं आती."

"शर्म तो मुझको तब आवेगी, जब आपको यह सब करने दूँ और खड़ा खड़ा देखता रहूँ. माँ बहिनों की लाज का लूटना अगर आप बुरा समझते हैं, तो ख़ुद यह काम क्यों कर रहे हैं ?"

"मुसलमानों को भी यह समझाइये न ."

"उनको भी समझाता हूँ. अभी.........मुहल्ले से चला आ रहा हूँ.

वहाँ से दो सौ हिन्दुओं को निकाल कर हिन्दू मुहल्लों में मैंने अभी-अभी पहुँचाया है. यकीन न हो तो मेरे साथ चल कर देख लो."

"यह बहस हमें नहीं चाहिये. अब आप यहाँ से हट जाइये. बड़े आये कांग्रेसी." एक नौजवान ने आगे बढ़ कर विद्यार्थी जी को धक्का दिया, इस पर कुछ लोगों ने उस नौजवान को पीछे खींच लिया. उनमें कितना ही जोश हो, पर विद्यार्थी जी की बेइज़्जती बर्दाश्त नहीं कर सकते.

कुछ ही देर में विद्यार्थी जी उस मुसलमान ख़ानदान को एक मुसलमान मुहल्ले की तरफ़ लिये जा रहे थे. उन दिनों चौबीसों घंटे वह इसी काम में लगे रहते थे. इसमें हर एक क़दम पर मौत से सामना होता था, लेकिन देश की इज़्ज़त और बेगुनाहों की जानें उनको अपनी जान से ज़्यादा प्यारी थीं.

सरकारी अफ़सरों ने, फूट परस्तों ने और गुन्डों ने विद्यार्थी जी का यह काम देखा तो उनकी छाती पर साँप लोटने लगा. इसका मतलब तो यह हुआ कि यह कांग्रेसी लोग पुलिस और फ़ौज से भी ज़्यादा ताक़त रखते हैं. परदे के पीछे फिर कुछ खुस फुस हुई और इस काँटे को भी हटाने का इन्तज़ाम कर लिया गया. जिसे देखकर हत्यारों के हाथ से तलवार गिर पड़ती थी, उसी की हत्या करने की साज़िश अब उन लोगों ने की, जो अपने को पढ़ा लिखा और मुहज़्ज़ब कहते थे. लेकिन इस ख़ूनी घटना को बताने से पहिले विद्यार्थी जी की ज़िन्दगी पर भी एक नज़र डाल लें, जिससे हम समझ सकें कि हमारे देश का कितना क़ीमती हीरा उस समय हमारी ही हैवानियत से मिट्टी में मिल गया. हमने अपने कितने बड़े सेवक या कितने सच्चे और बहादुर देश भक्त का अपने ही हाथों ख़ून कर दिया था. हायरी हमरी जेहालत.

इलाहाबाद के अतरसुइया मुहल्ले में विक्रमी संवत् के मुताबिक़ क्वार सुदी १४, दिन इतवार सं० १९४७ या ईस्वी सन् १८९० में एक

मामूली खाते पीते कायस्थ ख़ानदान में श्री गणेश शंकर जी विद्यार्थी का जनम हुआ था. आप के पिता जी का नाम मुंशी जय नारायण और आपकी माता जी का नाम श्रीमती गोमती देवी जी था. कहा जाता है कि जब विद्यार्थी जी माँ के पेट में थे, तब विद्यार्थी जी की नानी ने सपने में गणेश जी की मूर्ति देखी थी और इसलिये उन्होंने ही विद्यार्थी जी के पैदा होने पर उनका नाम गणेश शंकर रक्खा था.

विद्यार्थी जी के शुरू के ढाई बरस अपने नाना मुंशी सूरज प्रसाद जी के घर में बीते, जो सहारनपुर जेल के नायब जेलर थे. मशहूर है कि विद्यार्थी जी के नाना जब जेल से घर लौटते थे, तब जेल में बनी हुई एक छोटी सी डबल रोटी अपने प्यारे नाती के लिये रोज़ाना ले आते थे और विद्यार्थी जी उसे बड़े शौक़ से खाते थे. शायद जेल की रोटी की यह चाट ही उनको बार-बार जेल में खींच ले गई.

विद्यार्थी जी की शुरू की तालीम ग्वालियर में हुई, क्यों कि उनके पिता ग्वालियर रियासत के मुँगावाली क़स्बे में वहाँ के एक स्कूल के सैकेण्ड मास्टर हो गये थे. इसके बाद आपके पिताजी का तबादला भेलसा होगया. वहाँ आप अंग्रेजी पढ़ते रहे. सन् १९०७ में आपने इन्ट्रेन्स पास किया.

इन्ट्रेन्स पास करने के बाद भी आपने पढ़ना चाहा, इलाहाबाद की कायस्थ पाठशाला में आपने नाम भी लिखा लिया, लेकिन रुपये पैसे की तंगी ने आपको पढ़ने नहीं दिया. मजबूर होकर आपने पढ़ना छोड़ दिया. उस ज़माने में, 'भारत में अंग्रेज़ी राज' किताब के लेखक और मशहूर देशभक्त पं० सुन्दर लाल जी इलाहाबाद से 'कर्मयोगी' अखबार निकाला करते थे. उस अखबार के सम्पादन में विद्यार्थी जी भी काफ़ी मदद करते थे. शायद देश की आज़ादी का ख़याल भी इसी ज़माने में आपके दिल में पैदा हुआ.

इसके बाद किसी नौकरी की तलाश में आप कानपुर आगये, जहाँ

आपके बड़े भाई शिवब्रत जी रहते थे. ६ फ़रवरी १६०८ को आप कानपुर के करेन्सी आफ़िस में तीस रुपये महीने पर क्लर्क हुए. इस ज़माने में भी आप अक्सर किताबें और अख़बार पढ़ते रहते थे. इस पर एक अंगरेज़ अफ़सर से आपकी झपट होगई और आपने इस्तीफ़ा दे दिया.

दिसम्बर १६१० में आप कानपुर के पृथ्वीनाथ हाई स्कूल में बीस रुपये महीने पर मास्टर होगये. उस ज़माने में सुन्दर लाल जी के 'कर्मयोगी' अख़बार की बहुत धूम थी. आपका तो शुरू से ही इस अख़बार से लगाव था, इसलिये जब आप स्कूल पहुँचते, तब अक्सर आपकी जेब में 'कर्मयोगी' भी होता था. एक दिन हैडमास्टर ने आपकी जेब में 'कर्मयोगी' देखा, तो आपको ऐसे 'बग़ावत' फैलाने वाले अख़बार को पढ़ने से मना किया. इस पर आपने यह नौकरी भी छोड़ दी.

इसी ज़माने में आपने दो एक लेख लिखे, जो हिन्दी की मशहूर पत्रिका 'सरस्वती' में छपे. इसके साथ ही आप 'कर्मयोगी' में और 'स्वराज्य' में भी लिखते रहते थे। 'स्वराज्य' अख़बार इसके लिये मशहूर है कि बग़ावत फैलाने के जुर्म में कुछ ही महीनों के भीतर एक के बाद एक उसके सात सम्पादकों को काले पानी की सज़ा हुई थी. इसके बाद तो वह अख़बार बन्द ही हो गया. यहीं से आपको अख़बार नवीसी से दिलचस्पी हो गई और कुछ दिन 'सरस्वती' और 'अभ्युदय' में नौकरी करने के बाद आपने 'प्रताप' अख़बार निकालना शुरू कर दिया.

'प्रताप' का पहिला अंक ६ नवम्बर १६१३ को निकला. शुरू में वह हफ़्ते भर में एक बार निकलता था, बाद में सन् १६१६ से वह रोज़ाना निकलने लगा. लेकिन इस अख़बार के ज़रिये मालदार बनने की ख़ाहिश कभी विद्यार्थी जी के दिल में पैदा नहीं हुई. शुरू से ही 'प्रताप' अख़बार ग़रीब और बेकस जनता की आवाज़ बन गया. पुलिस

के ज़ुल्मों की कहानियाँ वह धड़ाके से छापता था और रियासती जनता पर होने वाले राजाओं के अत्याचारों का ऐसी निडरता से परदाफ़ाश करता था कि बड़े बड़े राजा भी 'प्रताप' से दहशत खाते थे. इसके नतीजे में हमेशा विद्यार्थी जी पर कोई न कोई मुक़दमा चलता रहता था और हमारे सूबे की सरकार 'प्रताप' से लम्बी लम्बी ज़मानतें मांग कर ज़ब्त करती रहती थी. कई बार इसके लिये विद्यार्थी जी को लाखों रुपये का लालच भी दिया गया कि वह किसी खास मामले में चुप्पी साध लें. लेकिन विद्यार्थी जी ने कभी अपने सुख आराम को तरजीह नहीं दी, इसलिये ऐसे लालच उन पर क्या असर करते ? अपने उसूलों के वह इतने सच्चे थे कि कई बार, उन लोगों की खातिर, जो उनके अखबार को खबरें भेजते थे, वह खुद सज़ा काट आये. सरकार ने ज़ोर डाला कि वह खबर भेजने वालों का नाम बतादें, लेकिन उन्हों ने साफ़ इनकार कर दिया .

जिन लोगों ने विद्यार्थी जी के साथ काम किया है, वह बताते हैं कि उनकी ज़िन्दगी भूकों मरते ही कटी. जब कभी चार पैसे होते, कोई न कोई ज़रूरत मन्द आकर उनको लेजाता. फ़रार क्रान्तिकारी उनके यहाँ महीनों रहते और विद्यार्थी जी किसी न किसी तरह उनकी ज़रूरतें पूरी करते ही थे. सरदार भगत सिंह जी भी 'प्रताप' आफ़िस में कई महीने तक रहे थे.

कोई काँग्रेसी साथी जेल चला जाता तो विद्यार्थी जी उसके खानदान की फ़िक्र रखते थे. इस सिलसिले में ऐसे लोगों की भी उन्होंने मदद की, जो ज़िन्दगी भर उनके खिलाफ़ रहे. अगर आस पास के किसी गांव में पुलिस की ज़्यादती सुनते तो विद्यार्थी जी वहाँ ज़रूर पहुँचते. इस तरह जनता के अधिकारों के लिये लड़ने वाले वह एक अथक योद्धा थे. बेसहारे देश भक्तों के सहारे थे और कानपुर ज़िले की कांग्रेस तो उनके सहारे चलती ही थी.

विद्यार्थी जी के दिल में देशभक्तों के लिये कितना दर्द था, इसकी

एक मिसाल यह है कि काकोरी केस में जब ठाकुर रोशन सिंह जी फाँसी पर चढ़ गये, तो अपने पीछे अपनी विधवा और एक जवान लड़की को भी छोड़ गये बेचारी विधवा ने बड़ी मुश्किल से लड़की की शादी तय की, लेकिन गाँव के थानेदार ने अपनी सरकार परस्ती के ज़ोम में लड़के वालों को डरा दिया और वह यह रिश्ता करने से इनकार करने लगे.

अब विधवा को बड़ी भारी परेशानी थी, लेकिन वह क्या करे? आस पास के कांग्रेस वालों को भी ख़बर भेजी गई, लेकिन वह सन् १६२६ का ज़माना था, इस लिये सब चुप्पी साध गये. लेकिन किसी तरह इसकी ख़बर विद्यार्थी जी को लग गई और दूसरे ही दिन विद्यार्थी जी उस गाँव में मौजूद थे. विद्यार्थी जी सबसे पहिले उस थानेदार के पास गये और उसे काफ़ी डाँट बताई. इसके बाद लड़के वालों से मिले. नतीजा यह हुआ कि उन्होंने रिश्ता करना मंज़ूर कर लिया. इसके बाद शादी के दिन विद्यार्थी जी फिर वहाँ पहुँचे और उन्होंने लड़की के बाप का काम ख़ुद ही किया. एक ख़ास बात यह थी कि उस थानेदार से विद्यार्थी जी ने कन्यादान की रस्म अदा कराई. इस तरह विद्यार्थी जी ने उस बेचारी विधवा की एक भारी मुश्किल आसान कर दी. आज, हममें से कितने ऐसे हैं, जो अपने शहीदों के ख़ानदान का इतना ख़याल रखते हैं?

विद्यार्थी जी की क़ाबालियत का तो कहना ही क्या? जब बोलने खड़े होते तो उनका एक एक लफ़्ज़ सुनने वालों के दिलों में उतरता चला जाता था.

ऐसा ही पुरअसर लिखते भी थे.

सिर्फ़ इन्ट्रेन्स पास थे, फिर भी अंग्रेज़ी की कई किताबों का ऐसा कामयाब तर्जुमा किया कि बड़े बड़े लेखक दाँतों तले उंगली दाब गये. उनके मेहनती होने का यह हाल था कि अभी अख़बार के लिये एडीटोरियल लिख रहे हैं और अभी उस पर टिकट भी लगा रहे हैं. कभी

कभी अखबारों को खुद ही लाद कर डाकखाने तक भी पहुँचा आते थे. काँग्रेस के काम में गाँवों को पैदल चल देते थे. न होता, तो साइकिल न जानने की वजह से किसी साइकिल चलाने के जानकर को साथ चलने के लिये राज़ी कर लेते और पीछे की सीट पर बैठकर बीस बीस मील चले जाते थे. उनका शरीर दुबला पतला था, लेकिन आत्मा उन्होंने लोहे की पाई थी.

अपनी उस छोटी सी ज़िन्दगी में ही उनको ऊँची से ऊँची इज़्ज़त मिली. कौन्सिल के मेम्बर रहे, कुल हिन्द हिन्दी सहित्य सम्मेलन के सभापति रहे, सूबे की काँग्रेस कमेटी के प्रेसीडेन्ट रहे और जब कानपुर में आल इंडिया काँग्रेस का सालनां जलसा हुआ, तब स्वागत कमेटी के जनरल सैक्रेट्री भी विद्यार्थी जी ही थे. कहा जाता है कि यह तमाम ओहदे उन पर जबरन थोपे गये थे,वरना इनसे वह जिन्दगी भर दूर भागते रहे कभी कभी खयाल होता है कि अगर कहीं आज वह होते तो कांग्रेस वालों में जो लालच और आपा धापी मची हुई है, उसे देखकर उनके दिल को कैसी परेशानी हुई होती ? इस मामले में वह पंडित जवाहर लाल जी से मिलते जुलते थे, जिनको ताक़त हाथ में रखने के लिये कभी कोई पार्टी बनाने का खयाल ही नहीं आता. उनके पास इन बातों के लिये वक़्त ही कहाँ था ?

और इसी लिये तो जब उन्हों ने देखा कि आज उनके शहर कानपुर में, सरकारी अफ़सर काँग्रेस की इज़्ज़त धूल में मिलाये दे रहे हैं और जनता उनके भुलावे में आ गई है, तो वह और काँग्रसियों की तरह चुपचाप इसे नहीं देखते रहे. सन् १९४५-४६ और ४७ के हिन्दू मुस्लिम बलवों के वक़्त जिस तरह हमारे बहुत से काँग्रेसी भाई अपनी लीडरी बनाए रखने के लिये, जनता की हाँ में हाँ मिलाने लगे थे और अपनी अपनी क़ौम की फ़िरक़ा परस्त जमातों में मिल गये थे, उसी तरह विद्यार्थी जी भी चाहते,तो उस वक़्त हिन्दू जनता की आखों के तारे बन जाते. इसके लिये उनको अपने को खतरे में डालने की ज़रूरत

नहीं थी. बस, अपने अखबार में मुसलमानों के खिलाफ़ लिख देते, या हिन्दुओं की एक दो गुप्त सभायें कर लेते और उनमें तक़रीरें झाड़ देते. जानने वाले जानते हैं कि बल्वों के वक़्त इसी तरह सैकड़ों आदमी अपनी क़ौम के लीडर बन जाते हैं और हज़ारों रुपये अलग पैदा कर लेते हैं. लेकिन विद्यार्थी जी ने तो वह रास्ता चुना, जिससे हिन्दू भी नाराज होते थे और मुसलमान भी. जब विद्यार्थी जी हिन्दुओं की हिफ़ाजत करते, तो मुसलमान कहते, "काँग्रेसी बनता है, लेकिन अपनी क़ौम का पक्षपात करता है. इतने मुसलमान मारे जा रहे हैं, वहाँ नहीं पहुँचता" और जब विद्यर्थी जी मुसलमानों को बचाते हुए दिखाई देते, तो हिन्दू कहते, "इन काँग्रेसियों को सिवा मुसलमानों की खुशामद के कुछ और आता ही नहीं. हिन्दू चाहे जितने मर जायँ, इनको परवाह नहीं है. लेकिन एक भी मुसलमान के चोट लग गई, तो बस इनका दम निकल जाता है. धर्म द्रोही कहीं के."

विद्यार्थी जी दोनों की ही गालियाँ सुन लेते थे. जानते थे, इसमें इन बेचारों का क्या क़सूर ? यह तो दूसरों के बहकाये हुए अपने मतलबी नेताओं के हाथों में खेल रहे हैं. इन गाली देने वालों में से न तो हिन्दू उन मुहल्लों मं पहुँचते हैं, जहाँ हिन्दुओं को खतरा है और न मुसलमान उन मुहल्लों में जाते हैं, जहाँ मुसलमानों को खतरा है. इसी लिये यह नहीं समझ पाते कि मैं तो दोनों को ही बचाता हूँ. शायद किसी दिन यह समझ सकें.

और "किसी दिन" तो जनता ने, उन गाली देने वालों ने असल बात समझी ही. लेकिन कब......?

शुरू में बताया जा चुका है कि जब विद्यार्थी जी के काम से बलवे की आग धीमी पड़ने लगी, तो उन सब लोगों के दिलों पर साँप लोटने लगे, जिनका हाथ इस बलवे में था. वैसे भी विद्यार्थी जी हमेशा उनकी आखों में खटकते रहते थे. पुलिस नाराज़ थी, क्यों कि उसकी रिश्वत की कहानियाँ 'प्राताप' में रोज़ छपती थीं. सरकारी अफ़सर नाराज़ थे,

क्यों कि उन्हों ने ज़रा भी।बेज़ाब्तगी की और 'प्रताप' ने उनके कान पकड़े. ज़मींदार और मिल मालिक•परेशान थे क्योंकि विद्यार्थी जी ने ग़रीब किसानों और मज़दूरों की हिमायत कर कर के उनको 'शेर' कर दिया था . अब जमींदार किसान को पिटवाता था, तो किसान मुक़ाबला करता था और मज़दूरों की तनख़्वाह घटाई जाती थी, तो हड़ताल हो जाती थी. कौंसिलों की मेम्बरी और चुँगी की चेयरमैनी से भी रईसों का रिश्ता ख़त्म होता जाता था और विद्यार्थी जी की 'भड़काई हुई' जनता उन लोगों को चुनने लगी थी, जो इन रईसों से दबते नहीं थे . फिर क्यों न इस काँटे को हमेशा के लिये दूर कर दिया जाय ?

श्री पट्टाभि सीतारमय्या ने अपनी किताब 'कांग्रेस के इतिहास' में यह साफ़ लिखा है कि "विद्यार्थी जी को धोका देकर एक जगह ले जाया गया, जहाँ वह सच्चे सत्याग्रही की तरह बिला किसी हिचक के चले गये और फिर वहीं वह क़त्ल कर दिये गये." और विद्यार्थी जी के नजदीकी दोस्त पं० श्री राम जी शर्मा सम्पादक 'विशाल भारत' ने इस लेख के लेखक को अपने एक ख़त में लिखा है—

"विद्यार्थी जी की हत्यामें सरकारी अधिकारियों का पूरा हाथ था..."

कहा जाता है कि उनका क़त्ल मुसलमानों के हाथों से इसलिये कराया गया, जिससे कि बलवे की आग और भी ज़्यादा भड़क उठे . उनको खबर दी गई कि फ़लाँ मुहल्ले में हिन्दुओं को मुसलमानों ने घेर रक्खा है. अपने कुछ मुसलमान साथियों को लेकर विद्यार्थी जी फ़ौरन उस मुहल्ले में पहुँचे. एक हिन्दू को देखते ही मुसलमानों की भीड़ उन पर झपटी, लेकिन विद्यार्थी जी के मुसलमान साथी बीच में आ गये और उन्होंने भीड़ को बताया कि यह तो गणेशशंकर विद्यार्थी हैं, जिन्होंने हजारों मुसलमानों को बचाया है. इस पर भीड़ फ़ौरन रुक गई लेकिन जो लोग इसी काम के लिये तैनात किये गये थे, उन्होंने कुछ आगे जाकर विद्यार्थी जी पर फिर हमला कर दिया. वह विद्यार्थी जी को खींच कर एक गली में ले जाने लगे. लेकिन विद्यार्थी जी ने शान्ति के साथ उन

क़ातिलों से कहा—"क्यों घसीटते हो मुझे, मैं भाग कर जान नहीं बचाऊँगा. एक दिन मरना तो है ही. अगर मेरे मरने से आप लोगों की ख़ून की प्यास बुझती हो, तो लो यह सर हाज़िर है."

इस पर विद्यार्थी जी वहीं क़त्ल कर कर दिये गये. हमारा तमाम सूबा जिसकी रोशनी से जगमगा रहा था, अपने उस दीपक को हमने अपने ही हाथों बुझा दिया.

बापू जब भी कहीं बलवा होने की ख़बर पाते थे, तभी उनको विद्यार्थी जी की याद आती थी. वह अक्सर कहा करते थे कि मैं तो गणेश शंकर जैसी मौत चाहता हूँ. और भगवान् ने गान्धी जी को ऐसी ही मौत दी.

यह थी विद्यार्थी जी की शान कि जिस गुरू के चरनों पर उन्होंने सब कुछ न्योछावर कर रक्खा था, वह गुरू भी उनकी जैसी ही मौत चाहता था. गान्धी जी कहा करते थे कि गणेशशंकर हमको सच्चे बलिदान का पाठ सिखा गया है.

काश! हम भी अपने इस देशभक्त की ज़िन्दगी और मौत से कुछ सीख पाते?

श्री लाल मोहन सेन

कलकत्ते की आग जब धीमी पड़ गई और फूट परस्तों ने महसूस किया कि उनकी हज़ार कोशिशें भी अब आम-जनता को एक दूसरे के गले पर तलवार चलाने के लिये नहीं उकसा सकतीं, तो उन्होंने बंगाल के किसी दूसरे हिस्से को इस काम के लिये तलाश करना शुरू किया और इसके बाद नोआखाली में और फिर नोआखली का असर लेकर ही बिहार में इन्सानों के ख़ून की जो होली खेली गई, उससे यह मानना ही पड़ेगा कि फूट परस्त अपनी कोशिशों में आख़िर कामयाब होकर ही रहे और इस्लाम व हिन्दूधर्म के ऊँचे और सुनहरे नामों पर वह जितनी सियाही पोतना चाहते थे, उससे कहीं ज्यादा सियाही इन दोनों धर्मों के शानदार नामों पर लग गई. हाँ इस सिलसिले में इतना कह देना और ज़रूरी है कि नोआखाली के क़िस्से को दुगना, चौगुना, दस गुना और कभी-कभी तो इससे भी ज़्यादा बढ़ा कर दिखाने में हिन्दू और हिन्दी अख़बारों ने इस आग को बढ़ाने में जाने या अनजाने ख़ूब ही मदद दी और जब इसके नतीजे में बिहार में ख़ूँरेज़ी शुरू हुई, तो उर्दू अख़बारों ने भी यही शर्मनाक रवय्या इख़तियार करके मुल्क भर में यह आग फैला दी, जिसका नतीजा सरहद, पच्छिमी पंजाब और सिन्ध के बेक़सूर हिन्दुओं को और पूरबी पंजाब व यू. पी के कुछ इलाक़ों की बेक़सूर मुसलमान जनता को भोगना पड़ा. लेकिन क्या कोई कह सकता है कि अब भी इन ख़ून के प्यासों की प्यास बुझ गई है ?

नोआखाली में जो दर्दनाक घटनाएँ घटीं, उन सबके बीच वहाँ के एक

देशभक्त नौजवान श्री लाल मोहन सेन की शहादत को बंगाल का दिल कभी भूल नहीं सकेगा.

श्री लाल मोहन सेन नोआखाली के पास ही बसे हुए से द्वीप इलाक़े के रहनेवाले थे, और उनको होश संभालने से पहले ही देशभक्ती की चाट लग गई थी. उनके पिता महाजनी का पेशा करते थे और गाँव भर में उनको बड़ी इज़्ज़त की निगाह से देखा जाता था. शुरू शुरू में तो लाल मोहन सेन के पिता का इरादा था कि अपने इस लड़के को वह पढ़ाने लिखाने के बजाय दूकानदारी का काम ही सिखावें, जिससे कुछ बरस बाद ही वह उनको मदद देने लगे, लेकिन लाल मोहन सेन का जेहन देखकर उनको अपना इरादा बदलना पड़ा और लाल मोहन सेन गाँव की ही पाठशाला में पढ़ने लगे. कहा जाता है कि बचपन में लाल मोहन सेन बेहद शरारती थे और उनकी वजह से उनके साथियों और स्कूल मास्टरों का नाकों दम रहता था. लेकिन इसके साथ ही लाल मोहन सेन पढ़ने-लिखने में इतने तेज थे कि उनकी शरारतें भी सबको प्यारी लगती थीं और सभी यह कहते थे कि यह लड़का आगे चलकर बहुत नाम पैदा करेगा. यह कहा जा सकता है कि लाल मोहन सेन ने उनकी इस उम्मीद को पूरा करके दिखा दिया, लेकिन ज़रा दूसरे रूप में.

गाँव की पढ़ाई पूरी हो जाने के बाद लाल मोहन सेन को आगे पढ़ाने का सवाल पैदा हुआ और वह अपने बड़े भाई के पास, जो उन दिनों चटगाँव में रह कर अपनी पढ़ाई पूरी कर रहे थे, भेज दिये गये. जिन लोगों ने हिन्दुस्तान की आज़ादी की लड़ाई का इतिहास पढ़ा है, वह जानते हैं कि हमारे इस इतिहास में चटगाँव एक खास हैसियत रखता है. जिन दिनों लाल मोहन सेन चटगाँव पहुँचे, उन दिनों तो वहाँ उन क्रान्तिकारियों का, जो हिंसा के ज़रिये आज़ादी लेने पर यक़ीन करते थे, एक बहुत बड़ा संगठन काम कर रहा था. इस संगठन के नेता सूर्यसेन थे, जिनको उनके साथी 'मास्टर दा' के नाम से पुकारते

आज के शहीद

श्री लाल मोहन सेन

थे. अँग्रेज़ सरकार की तो सूर्य सेन और उनके साथियों की वजह से रातों की नींद हराम हो गई थी और बरसों तक वह छोटा सा शहर एक फ़ौजी अड्डा बना कर रक्खा गया. सूर्यसेन के सर के लिये सरकार ने कई हज़ार का इनाम बोल रक्खा था. लेकिन तब यानी सन् १९३०-३१ में बंगाल के देहातों में यह फ़िरक़ा परस्ती का भूत नहीं घुस पाया था, इसलिये वहाँ के हिन्दू और मुसलमान चाहे ग़रीब थे, लेकिन बहादुर थे और सरकार को एक आदमी भी उस इलाक़े में ऐसा नहीं मिल सका था, जो सूर्यसेन को पकड़वा देता. हालाँकि सूर्यसेन चटगाँव खास और उसके आस-पास के देहातों में ही अपने संगठन का काम दिन रात करते रहते थे.

लाल मोहन सेन जब चटगाँव के स्कूल में पढ़ने लगे, तो उन्होंने सुना कि जिन देशभक्तों की बात वह अपने बड़ों से अभी तक सुनते आये हैं, उनका एक संगठन यहीं, चटगाँव में भी है. लाल मोहन ने उसी दिन से उस संगठन का पता लगाना शुरू कर दिया और न जाने कहाँ से टोह लगा कर वह एक दिन सूर्यसेन के सामने जा खड़े हुए और बड़ी निडरता से बोले—"मास्टर दा ! आप मुझे भी अपने दल में शरीक कर लीजिये."

सूर्यसेन ने एक बार लाल मोहन को सर से पैर तक आँख भरके देखा और आदमी को छन भर में परख सकने वाले उस जौहरी ने फ़ौरन ही जवाब दिया—"अच्छी बात है. आज से तुम हमारे दल के मेम्बर हो."

उस समय लाल मोहन की उम्र १४ साल, जी हाँ, सिर्फ़ १४ साल की थी.

सूर्यसेन के दल के बहुत से मेम्बरों को इस बात पर ताज्जुब था, कि जो मास्टर दा ख़ूब जाने पहिचाने हुए बहुत से नौजवानों पर भी यक़ीन नहीं करते और उनको दल से दूर-दूर ही रखते हैं, उन्होंने इस अनजान १४ साल के लड़के पर इतना गहरा यक़ीन कैसे कर लिया ? पर

मास्टर दा जानते थे कि उन नौजवानों में और इस लड़के में क्या फ़र्क़ है; कुछ दिन बाद तो सब साथी भी इस बात को जान गये.

इसके कुछ ही दिन बाद मास्टर दा और उनके दल ने यह फ़ैसला किया कि ग़ुलामी की नींद में सोते हुए अपने मुल्क को जगाने के लिये कोई ऐसा काम करना चाहिये, जिसका असर पूरे देश की जनता पर पड़ सके, और वह समझ सके कि आज़ादी की लड़ाई अभी बदस्तूर जारी है और उसे देशभक्तों के ख़ून की जरूरत है. इसके लिये तय किया गया कि एक बार दिन दहाड़े चटगाँव के सरकारी हथियार खाने पर चढ़ाई की जाय और वहाँ से हथियार निकाल कर तब तक लड़ाई जारी रक्खी जाय, जब तक कि दल का एक भी आदमी जिन्दा रहे. यह सब लोग इतना तो समझते ही थे कि अकेले चटगाँव में दो चार दिन इस तरह लड़ाई लड़ लेने से कोई स्वराज्य नहीं मिल जायगा और इसका सौ फ़ीसदी नतीजा यही होगा कि हम सब मारे जावेंगे. लेकिन उनको तो सिर्फ़ अपने देशवासियों को एक रास्ता दिखाना था और इतने भर के लिये उन्होंने अपनी जान क़ुरबान कर देने का फ़ैसला कर लिया था.

यह स्कीम जब बन गई, तो सबसे पहिले रुपये का सवाल पैदा हुआ ! आख़िर हथियार खाने पर चढ़ाई करने के लिये भी कुछ समान और हथियारों की ज़रूरत थी ही. अन्त में इसके लिये भी यही फ़ैसला हुआ कि यह रुपया दल के मेम्बर ही जुटायें. लाल मोहन यह फ़ैसला सुनते ही अपने गाँव को चल दिया और एक दिन जब उसके बाबा कहीं गये हुए थे, तो उनके सन्दूक़ से उसे जो कुछ मिला, उसने मास्टर दा के आगे लाकर रख दिया. मास्टर दा ने यह देखा तो पल भर के लिये उन पत्थर जैसा दिल रखने वाले की आखों में भी आँसू आगये और फिर कुछ ही देर में उन्होंने लाल मोहन को जैसे छेड़ते हुए कहा—
"मालूम होता है कि चोरी करके लाये हो."

"चोरी है भी और नहीं भी है." लालमोहन ने फ़ौरन जवाब दिया—
"चोरी है, इसलिये कि बाबा के पीछे उनका सन्दूक़ तोड़कर रुपया

लाया हूँ और तब भी मेरा यह काम चोरी इसलिये नहीं कहा जा सकता, क्योंकि मैं एक खत के ज़रिये बाबा को यह सूचना दे आया हूँ कि रुपया मैं लिये जा रहा हूँ और यह रुपया एक अच्छे काम में ही लगेगा. इसके अलावा और चारा भी क्या था मास्टर दा ?"

कुछ ही दिन बाद माँ का एक पत्र लाल मोहन को मिला, जिसमें उन्होंने लिखा था कि इस तरह से रुपया ले जाना हालाँकि किसी तरह भी ठीक नहीं कहा जा सकता, लेकिन रुपया अगर किसी अच्छे काम में लग रहा हो, तो मेरे आशीर्वाद तुम्हारे साथ हैं."

मास्टर दा ने भी यह खत देखा और वह मन में सोचने लगे कि अगर ऐसी माँ का लाल मोहन जैसा पुत्र हो, तो इसमें ताज्जुब की कौन सी बात है !

कुछ ही दिनों में जब इसी तरह रुपया इकट्ठा हो गया, तो १८ अप्रैल १९३० को चटगाँव के सरकारी हथियार खाने पर चढ़ाई हुई. लाल मोहन को मास्टर दा ने यह काम सौंपा था कि वह चटगाँव के आस-पास की रेलवे लाइन को उखाड़ दे, जिससे कि बाहर से फ़ौरन ही कोई फ़ौजी मदद यहाँ के अफ़सरों को न मिल सके. इसके बाद मास्टर दा का इसरार था कि लाल मोहन को अपने घर पर वापस चला जाना चाहिये.

लाल मोहन ने अपना काम बड़ी ख़ूबी के साथ पूरा किया. १८ अप्रैल की रात को १० बजे एक तरफ़ चटगाँव के हथियार खाने पर चढ़ाई हो रही थी और दूसरी तरफ़ लाल मोहन ने अपने दो एक साथियों के सहारे धूम और मंगलकोट की पहाड़ियों के पास की रेल की तमाम पटरियाँ उखाड़ कर फेंक दीं. अपना यह काम पूरा करने के बाद वह चाहते, तो घर वापस जा सकते थे, लेकिन उनको मालूम था कि दल के जो मेम्बर हथियार खाने पर चढ़ाई करने गये हैं, वह अपना काम पूरा करके जलालाबाद की पहाड़ियों पर अपना मोर्चा लगावेंगे.

इस लिये लाल मोहन भी जलालाबाद की पहाड़ियों में जा पहुँचे और अपने साथियों से मिल गये.

जलालाबाद की पहाड़ियों में लाल मोहन के साथियों ने अपना मोर्चा बना लिया था और वह उन मामूली हथियारों के साथ ही अंग्रेज़ी फ़ौज का मुक़ाबला कर रहे थे, जो सामने की पहाड़ी पर तोपों और मशीनगनों के साथ जमी हुई थी. मुक़ाबला काफ़ी देर तक रहा, लेकिन आख़िर उस पूरी फ़ौज के सामने नौजवानों की यह टोली कब तक जमती ? आख़िर इस लड़ाई में ग्यारह क्रान्तिकारी और सरकारी फ़ौज के चौंसठ सिपाही खेत रहे. बाक़ी क्रान्तिकारी गिरफ़्तार कर लिये गये, जिनमें से एक लाल मोहन भी थे.

इसके बाद मुक़दमा शुरू हुआ. चटगाँव के उस ज़माने के कलक्टर मिस्टर विलिकसन, जो हथियारख़ाने पर हमला होने की ख़बर पाकर जान बचाने के लिये बन्दरगाह में जा छिपे थे, अब इन नौजवानों को ज़्यादा से ज़्यादा सज़ा दिलाने के लिये पूरी तैयारी के साथ मैदान में उतरे. कचहरी आते जाते वक़्त यह नौजवान देशभक्ती से भरे हुए जो नारे लगाते थे, उनको सुनकर मिस्टर विलिकसन को बड़ी झुँझलाहट होती थी. उसी झुँझलाहट में एक दिन उन्होंने लाल मोहन की पीठ पर एक हल्की सी धप जमाकर कहा—"पागल लड़के ! शोर क्यों मचाता है ?"

लाल मोहन ने पीछे मुड़कर जैसे ही साहब की शक्ल देखी, वह क्रोध से लाल हो गये. हथकड़ियों से जकड़े हुए अपने दोनों हाथों को वह साहब की खोपड़ी पर देही मारना चाहते थे कि साहब वहाँ से भाग खड़े हुए. इस फ़ौरी सूझ बूझ ने उस दिन ठीक वक़्त पर साहब की जान बचा दी.

मुक़दमे में लाल मोहन को ज़िन्दगी भर के लिये कालेपानी की सज़ा सुनाई गई और १५ अगस्त १६३२ की शाम को एक जहाज़ धीरे धीरे

उनकी जन्मभूमि से उनको दूर ले चला. लाल मोहन की उस वक़्त की हालत के बारे में उनके एक साथी ने लिखा है—

"एक झरोखे में लाल मोहन की आँखें अपनी जन्मभूमि की ओर लगी हुई थीं. मैंने देखा उसकी आँखों से आँसू टपक रहे थे. अपनी जन्मभूमि का वियोग लाल मोहन को उसी तरह बेकल कर रहा था, जैसे किसी बच्चे के सामने उसकी माँ की मौत."

अण्डमान पहुँचकर भी नौजवान लाल मोहन के दिल की आग में कोई फ़र्क़ नहीं पड़ा. अपनी इस ज़िन्दगी का एक दिन भी उन्होंने ऐसा नहीं बिताया, जिसमें उन्होंने हुकूमत के क़ानूनों को अपनी राज़ी रज़ा से माना हो. इसके लिये बराबर उनको सज़ायें मिलती रहीं और एकबार तो उन्होंने ३८ दिन की लम्बी भूक हड़ताल भी की. उस वक़्त लाल मोहन एक ऐसे मुरझाये हुए फूल की तरह हो गये थे, जिसमें ज़िन्दगी वापस आती हुई नहीं दिखाई देती थी. लेकिन परदेशी हुकूमत भी ऐसे बड़े देशभक्त की क़ीमती जान लेने का हौसला नहीं कर सकी और लाल मोहन की शर्तें अण्डमान के अफ़सरों ने ठीक वक़्त पर पूरी करके उनकी जान बचा ली. काश ! लाल मोहन उसी वक़्त शहीद हो गये होते, तो उनको अपनी आँखों के सामने वह बातें तो न देखनी पड़तीं, जिन्होंने इस महान देशभक्त के दिल को छलनी कर दिया था.

आख़िर क़ैद के दिन खतम हुए और पूरे १६ साल कालेपानी में बिताकर अगस्त १९४६ में लाल मोहन जेल से बाहर निकले. अब भी उनका दिल आज़ादी की लड़ाई में हिस्सा लेने के हौसलों से भरा हुआ था. उन्होंने सोच लिया था कि इस बार वह मज़दूरों में काम करेंगे, जिससे साम्राजशाही के मुक़ाबले में उनका एक मज़बूत मोर्चा खड़ा किया जा सके. लेकिन सबसे पहिले उन्होंने अपनी उस माँ से मिल आना ज़रूरी समझा, जिसने लम्बे लम्बे सोलह बरस जेल की दीवारों को ताकते हुए बिता दिये थे. जब लाल मोहन यकायक अपनी माँ के सामने जा खड़े हुए, तो कुछ देर न तो माँ बेटे को पहिचान सकी और न बेटा माँ को.

लेकिन फ़ौरन ही बेटा माँ के पैरों पर लोट रहा था और माँ उसे उठाकर कलेजे से लगाने की कोशिश कर रही थी. यह राम और कौशिल्या का मिलन था, जिसके बयान में महात्मा बालमीक ने कमाल कर दिया है, फिर भी वह उसकी सही तस्वीर नहीं खींच सके हैं. १६ बरस बाद काले-पानी से लौटे हुए बेटे का मिलन! कौन है, जो उस वक़्त की ख़ुशी की सच्ची तस्वीर शब्दों में उतार सके? पर बेचारी माँ क्या जानती थी कि यह अभागा देश आज हैवानों का, आदमखोरों का देश बन गया है, वरना वह वियोग की आग में जलना मंज़ूर कर लेती और अपने लाल मोहन को वापस कालापानी भेज देती.

कुछ दिनों तक लाल मोहन बरसों से बिछुड़ी हुई अपनी बहिनों व दूसरे रिश्तेदारों से मिलने जुलने में लगे रहे. इसके बाद वह कलकत्ता वापस आना ही चाहते थे कि नोआखाली में आग भड़क उठी. भाई भाई का गला काटने लगा. यह सब इस्लाम के नाम पर किया जा रहा था. उस इस्लाम के नाम पर, जिसमें सबसे बड़ा हक़ पड़ोसी का बताया गया है. लेकिन यह एक नये क़िस्म का 'इस्लाम' था, जिसमें पड़ोसियों को क़त्ल किया जा रहा था, उनके घरों में आग लगाई जा रही थी और उनकी औरतों को भगाया जा रहा था. लाल मोहन का दिल यह सब देखकर रो उठा और वह सोचने लगे कि क्या जिस देश के लिये उन्होंने अपनी तमाम जवानी जेल के सीखचों के भीतर बिता दी और जिसकी पूजा करते करते उन्होंने बड़ी से बड़ी मुश्किलों को हँसते हँसते सहन कर लिया, उसकी असली तस्वीर यही है.

उस वक़्त नोआखाली के हिन्दुओं ने भागना शुरू कर दिया था. लाल मोहन चाहते तो आसानी से भाग सकते थे लेकिन उन्होंने भागने से इनकार कर दिया और एक शान्ति कमेटी बनाकर काम करने लगे. इस कमेटी के वह ख़ुद ही मंत्री बने और सोलह साल की जेल की भयानक तकलीफ़ों से थके हुए शरीर को लेकर इन्सान को इन्सान बनाने के काम में जुट पड़े. वह जानते थे कि आम जनता और आम मुसलमान इस

मारकाट को नापसन्द करते हैं, लेकिन कुछ लीडरों और कुछ गुण्डों के मुक़ाबले में आम जनता की चल नहीं पाती. लाल मोहन इस अमन पसन्द जनता को संगठित करके बलवाइयों के खिलाफ़ एक मोर्चा खड़ा कर देना चाहते थे. इस काम में उनको कुछ कुछ कामयाबी भी मिली और उनके आस पास का इलाक़ा किसी हद तक उस सत्यानासी आग से बचा रहा. लेकिन इसके नतीजे में गुण्डों की आँखों में लाल मोहन कांटे की तरह खटकने लगे. गुण्डों ने यह प्रचार करना शुरू कर दिया कि एक तरफ़ तो लाल मोहन अमन की बातें करता है और दूसरी तरफ़ चुपके चुपके हिन्दुओं को हथियार जुटा रहा है. ऐसे वक़्तों में जनता का दिमाग वैसे ही खराब रहता है. इसलिये इस बात पर यक़ीन भी किया जाने लगा. उधर बाहर के लोगों ने नोआखाली के क़िस्सों को जिस तरह बढ़ा चढ़ाकर बताना शुरू किया, उसका भी जनता पर काफ़ी बुरा असर पड़ा और जो लोग अमन की बातें करते थे, उनके दिल में भी ज़हर भरने लगा. लाल मोहन इन हरकतों से हैरान हो चले. उनको कभी कभी इस बात पर झुँझलाहट होती थी कि नोआखाली के मसले पर यह शोर ग़ुल मचाने वाले यहाँ की हिन्दू जनता की मुसीबतें बढ़ाते ही हैं और ख़ुद कायरों की तरह दूर ही दूर से तमाशा देख रहे हैं. फिर भी वह अपने काम में जुटे ही रहे.

उन दिनों पचासों बहिनों को लाल मोहन के नाम का सहारा था और पचासों खानदान उनकी हिम्मत पर जिन्दा थे. आम मुसलमानों की निगाहों में भी उनकी भारी हिम्मत थी और क्या मजाल कि लाल मोहन के रहते कोई गुण्डा बेजा हरकत कर सके. कई मुसलमान कार्यकर्ता भी लाल मोहन के काम में शरीक थे और उनकी तादाद बढ़ती ही जा रही थी.

पर यकायक एक दिन लोगों ने सुना कि लाल मोहन भी इस गुण्डा-गर्दी के शिकार हो गये. वह किसी गाँव को जा रहे थे कि गुण्डों ने उनको घेर कर मार डाला. इस तरह भारत माता का यह अनोखा लाल

ख़ुद अपने ही देशवासियों के हाथों शहीद हो गया. अभी लाल मोहन को रिहा हुए पूरा एक महीना भी नहीं हुआ था.

अब उस माँ का हाल कौन बयान करे, जिसने अपने लाल के इन्तज़ार में १६ बरस छाती पर पत्थर रख कर काट दिये थे और जो अभी उससे अपने सुख दुख की बात भी अच्छी तरह नहीं कर पाई थी. हमारे अभागे देश ने यह बदला उसकी शानदार क़ुरबानी का दिया था. उस दिन उस इलाक़े के सभी सच्चे मुसलमानों की गर्दनें शर्म से झुकी हुई थीं.

लेकिन जिनके दिल में इन्सानियत नाम को भी नहीं रह गई थी, वह उसी ढर्रे पर चलते रहे और आज भी उसी ढर्रे पर चले जा रहे हैं. उनमें से ज़्यादातर वह लोग हैं, जो हमेशा मुल्क की आजादी का विरोध करते रहे. इसलिये उनके दिल में इस देशभक्त की क़ीमत ही क्या हो सकती थी ? पर जो लाल मोहन और उन जैसे दूसरे देशभक्तों की क़ुरबानियों की क़ीमत समझते हैं, क्या वह इस शहादत से कुछ सबक़ ले सकेंगे ?

—सम्पादक

गले लग कर मरे

अभी हाल की एक खबर है कि बम्बई में एक हिन्दू ने अपने एक मुसलमान दोस्त को आसरा दिया. इससे हिन्दुओं का एक दल भड़क उठा और उसने कहा—'अपने मुस्लिम दोस्त को हमें सौंप दो!' हिन्दू ने अपने दोस्त को सौंपने से इनकार किया. इस पर दोनों दोस्त मौत के घाट उतार दिये गये.* मरते वक्त दोनों एक दूसरे को छाती से लगाये हुए थे. एक जानकार ने मुझे बिलकुल इसी तरह यह खबर सुनाई थी. इस खूंखारी के बीच इस तरह की यह पहली ही मिसाल नहीं है. पिछले दिनों कलकत्ते में जो खून की नदियाँ बहीं, उनमें भी कई जगह हिन्दुओं ने मुसलमान दोस्तों को और मुसलमानों ने हिन्दू दोस्तों को अपनी जान पर खेल कर आसरा दिया था. इन्सान में देवता या फरिश्ते का जो अंश है, अगर उसकी झलक किसी भी वक्त और कहीं भी न दिखाई दे, तो इन्सानियत (मानवता) मर जाय.

बम्बई के बड़े वजीर श्री बाला साहब खेर ने बहुत जोरदार शब्दों में दो ऐसे नौजवानों की मिसाल का बयान किया है, जो यह जानते हुए भी कि वह जरूर मार डाले जायेंगे. एक मुस्लिम भीड़ का गुस्सा ठण्डा करने के लिये दौड़ पड़े थे. मौत को उन्होंने

*हमें उम्मीद है कि अगले एडीशन में हम इन दोनों शहीदों की जिन्दगी के पूरे हालात दे सकेंगे. —सम्पादक

सच्चे दोस्त की तरह अपनाया. ऐसी पाक कुरबानी की क़ीमत बे-अन्दाजा है. कोई हलके तरीके से इसका मज़ाक न उड़ाये. अगर ऐसी हर एक कुरबानी का नतीजा कामयाबी हो, तो जान पर खेल जाना मामूली हंसी खेल हो जायगा. यह घटनायें हमको यही सबक देती हैं कि अगर ऐसे किस्से काफ़ी तादाद में हमारे सामने आयें तो मजहब के नाम पर बेवक़ूफी भरी मारकाट बन्द हो जाय. सबसे जरूरी शर्त यह है कि इसमें कहीं दिखावा या नकली बहादुरी न हो. हम जैसे हैं, वैसे ही दिखने की कोशिश करें.

नई दिल्ली १५-१०-४६

मोहनदास करमचन्द गान्धी

अलीपुर डिस्ट्रिक्ट जज

(बहेन शकुन्तला प्रभाकर)

अलीपुर के डिस्ट्रिक्ट जज बड़े नेक, समझदार और तजरबेकार आदमी थे उनका खासा बड़ा परिवार था. उनका बंगला एक शान्त हिफ़ाज़त की जगह चिड़िया घर के पीछे था.

सोलह अगस्त छुट्टी का दिन था. लीग की सरकार थी और लीग की ही तरफ़ से हड़ताल थी. जज साहब को उठते ही अखबार पढ़ने का शौक़ था. जब तक अख़बार न पढ़ लें, चाय तक न पीते थे. आज सत्रह तारीख थी. अखबार का इन्तज़ार था. बार-बार दरवाज़े की तरफ़ जाते और झुंझला कर लौट आते थे. बात क्या है ? अभी तक अखबार वाला नहीं आया. इतनी देर तो उसे कभी न होती थी. इतने में उनकी बड़ी लड़की आई. बोली—"चाय तैयार है."

जज साहब—"चाय तैयार हो गई ? अभी अखबार तो आया नहीं. अच्छा ठहरो अभी आता हूँ."

लड़की—"आज अखबार नहीं आयगा. कल लीग की हड़ताल जो थी."

जज साहब—"अरे हाँ ! याद आया. आज पेपर नहीं आयगा. पहले क्यों नहीं बताया. मेरा इतना वक़्त बेकार खराब किया."

लड़की हँसती हुई अपने पापा का हाथ पकड़ कर चाय के लिये अन्दर ले गई.

जज साहब बंगाली हिन्दू थे. बंगले के आस पास की बस्ती भी हिन्दू बस्ती थी. सिर्फ़ कुछ छोटे मोटे मज़दूर पेशावर मुसलमान फल वाले या ग़रीब धोबी आस पास रहते थे. सोलह तारीख़ अमन से गुज़र चुकी थी. जज साहब को पता तक न था कि शहर में कुछ हुआ है, क्योंकि वह एक अलग स्थान में रहते थे.

जज साहब के बंगले के पीछे उनके खानसामां के घर से लगा एक मुसलमान धोबी का घर था. धोबी के परिवार में आठ दस आदमी थे. कई बच्चे थे. वह उन सफ़ेद पोशों के कपड़े धोकर अपने बड़े परिवार का पेट भरता था.

अचानक हिन्दुओं का एक दल साफ़ सुथरे कपड़े पहिने बड़े शोर शराबे के साथ, हाथों में डंडे, लाठी, तलवार लिये उस ग़रीब मुसलमान धोबी के घर में घुस पड़ा. घर के सभी प्राणी स्त्री, बच्चे, बड़े बूढ़े काँप गये. बात की बात में इस ज़मीन के पर्दे से उनका निशान मिट गया. न जाने कैसे एक पाँच बरस का बालक किसी तरह भीड़ की आंखों में धूल झोंकता घर के बाहर भाग निकला.

जज साहब चाय पी रहे थे. उसी वक़्त पास से शोर सुनाई दिया. वह चाय छोड़ बाहर भागे. माँ बेटा और सभी उन्हें रोकते रहे पर जज साहब रुक न सके, आ ही तो गए बाहर.

उन्होंने देखा कि एक नन्हा सा पाँच बरस का बच्चा 'बचाओ' 'कोई बचाओ' चिल्लाता उन्हीं की तरफ़ भागा आ रहा है. उसके पीछे पचास साठ का झुंड था. मासूम बच्चा काँपता चिल्लाता छोटी सी जान लिये आँख बन्द किये दौड़ता चला आ रहा है. भीड़ पीछा कर रही है. आवाज़ें आ रही हैं—'मारो साले को, यह मुसलमान है.' 'देखो निकल न भागे यह शिकार.'

घबराया हुआ बच्चा जज साहब को आते देख उनकी तरफ़ लपका. 'बचाओ' 'बचाओ' कह कर जज साहब से जाकर लिपट गया. जज साहब ने भी 'आओ बेटा, तुम्हें कोई कुछ नहीं कह सकता.' कहकर गोदी में

उठा लिया. पुचकारा और दिलासा दिया. उसकी फूल सी आँखें भरी हुई थीं. इनकी भी आँखें भर आईं.

अभी जज साहब आँखें पोछ भी न पाये थे कि भीड़ पास आ गई और शोर मचा मचा कर कहने लगी—'इसे छोड़ दो, इसे छोड़ दो, यह मुसलमान है, यह हमारा शिकार है, इसकी जान लिये बिना हम नहीं रहेंगे.'

जज साहब—"नहीं, मैं इसे नहीं छोड़ सकता. इस नन्हे बच्चे को मार कर क्या लोगे."

भीड़ से आवाजें आईं—"यह मुसलमान का बच्चा है, मालूम है कुछ आपको ? आप तो घर बैठे आराम कर रहे हैं. मुसलमानों ने कितने खून किये हैं, शहर में कितनी लूट मार की है ? इसे छोड़ दो, छोड़ दो, हम इसकी जान लेकर रहेंगे."

बच्चा यह सब देख सुन सहम कर जज साहब से और ज़ोर ज़ोर से लिपटा जा रहा था, मानो वह उनके अन्दर घुस जाना चाहता था. उसकी आँखें डर से बन्द थीं.

जज साहब—"इसने किसी हिन्दू को नहीं मारा, यह बेक़सूर है. यह किसी को मार भी नहीं सकता, किसी को मारेगा भी नहीं."

भीड़—"यह सब हम नहीं सुनना चाहते. छोड़ दो, छोड़ दो, छोड़ो."

बदले के जोश में गरम भीड़ और गरम होती चली गई. इधर इन्साफ़ और जान बचाने के जोश से गरम जज साहब भी और गरम होते गये. शेर की तरह गरज कर बोले—"नहीं, मैं इसे नहीं छोड़ सकता. अब यह मेरा बच्चा है, मेरी गोद में है, मेरा है और मेरा ही रहेगा."

भीड़—"हम कहते हैं, और फिर कहते हैं, इसे छोड़ दो. नहीं तो तुम्हें भी जान से हाथ धोना पड़ेगा."

जज साहब—"हाँ, मुझे मारो, इसे हाथ नहीं लगा सकते."

आवाज़ उठी—"मारो, मारो, बड़ा बना है इन्साफ़ करने वाला."

इस आवाज़ के खत्म होते होते जज साहब के सर पर लाठी का जमा हाथ बैठा और बग़ल में छुरी का वार हुआ. मासूम बच्चा फड़का, काँपा और बेहोश होकर गिर पड़ा.

भीड़ ने उसके साथ क्या किया, क़लम नहीं लिख सकती, शैतान भी होता तो आंखें बन्द कर लेता.

'बच्चा बच्चा' कहते हुए उसके धर्म पिता के प्राण पखेरू उड़ गए. पर सफ़ेद पोश पागल भीड़ की ख़ून की प्यास फिर भी न बुझी. आगे बढ़ा, जज साहब के घर में घुस गयी, कोने कोने को छान डाला पर कहीं कोई मुसलमान न मिला फिर भी न प्यास बुझी, न नशा उतरा. आँसू बहाती माँ बेटी से पूछा—"बताओ मुसलमान कहां छिपा रक्खे हैं, बताओ नहीं तो मकान में आग लगाते हैं."

मां से अब न रहा गया. रोना छोड़ फट पड़ी—"आग लगा दो, हम सबको मार डालो, अब तक यहां कोई मुसलमान नहीं था, अब सौ मुसलमान छिपे हैं, नहीं बताते. करो जो जी में आये."

भीड़ का रंग बदल गया. वह लौट पड़ी.

परिवार अब दहाड़ मार कर रो पड़ा. अब वह अनाथ था !

जिनको यह घटना मालूम है, उन सबके दिल में यह सवाल उठता है कि हिन्दू धर्म की असली रक्षा किसने की ? उस भीड़ ने या जज साहब ने ?

महमूद और रमज़ान

(बहेन शकुन्तला प्रभाकर)

अलीपुर के डिस्ट्रिक्ट जज साहब की ही तरह एक और घटना भी मुझे मालूम है, जिसमें दो मुसलमान नौजवानों ने अपने हिन्दू पड़ोसियों को बचाने की कोशिश में अपनी जान दे दी. यह घटना जिनके साथ हुई, वह हमारे नज़दीकी जान पहिचान के आदमी हैं, इसलिये इस घटना की सचाई का तो सवाल ही नहीं है.

जिनके साथ घटना हुई, उनका नाम मानिक लाल भाई है. पहिले कानपुर में रहते थे, लेकिन कलकत्ते के सेठ लक्खीराम जी की तेल मिल में एक अच्छी नौकरी मिल जाने से कलकत्ते चले आये. मकान न मिलने से कुछ दिन हमारे यहां मेहमान के तौर पर रहे, बाद में १२ अगस्त १९४६ को उन्हें मिल के पास ही, सड़क से लगे हुए एक मकान में रहने भर को जगह मिल गई. उनके घर में कुल चार प्रानी थे. वह ख़ुद, उनकी धर्मपत्नी, एक सोलह बरस की लड़की और एक अटारह बरस का लड़का. इतने प्रानियों के लिये वह जगह काफ़ी थी.

नये मकान में गये हुए चार दिन ही हुए थे, कि १६ अगस्त आ पहुँची. लीग की तरफ़ से हड़ताल का ऐलान हुआ और इस हड़ताल का ज़ोर मानिक लाल भाई के मकान के आस पास काफ़ी था, क्योंकि उस इलाक़े में ज़्यादातर दूकानें मुसलमानों की ही थीं. मानिकलाल जी के मकान के निचले दोनों हिस्सों में भी मुसलमान ही थे.

मकान से लगी हुई एक बनियान की दूकान थी, जिस पर महमूद और रमज़ान दो भाई बैठा करते थे. उनके राजनैतिक ख़यालात तो लीग की तरफ़ झुके हुए थे, लेकिन उनकी भलमनसाहत रास्ता चलते आदमी को भी मोह लेने वाली थी. १६ अगस्त को सवेरे ही उन्होंने ऊपर आकर मानिकलाल भाई से कहा कि अगर आज शाम तक के लिये आप कहीं चले जायँ, तो अच्छा रहेगा. लेकिन मानिक लाल जी बड़े निडर आदमी थे. उन्होंने जवाब दिया—"अरे ऐसी क्या बात है. आप सब लोग हैं ही. फिर हमको क्या ख़तरा है?"

दोनों भाइयों ने कुछ देर उनसे इसरार किया, फिर चुपचाप वापस चले गये. उनके जाते ही मानिकलाल भाई छज्जे पर कुर्सी डाल कर बाहर का तमाशा देखने लगे.

धीरे-धीरे दोपहर के दो बजे और हवा में कुछ गर्मी सी महसूस होने लगी. तीन बजे के क़रीब हड़तालियों का एक बड़ा जुलूस निकला. इस जुलूस ने रास्ता चलते हिन्दू मुसाफ़िरों को मारना शुरू कर दिया. कुछ मकानों दूकानों में आग भी लगा दी. कुछ ही देर में इस जुलूस का एक हिस्सा मानिक लाल भाई के मकान के सामने आ पहुँचा. उस वक़्त महमूद और रमज़ान दोनों भाई अपनी बन्द दूकान पर बैठे हुए थे. उनको देखकर जुलूस आगे बढ़ गया. अब महमूद और रमज़ान ने ऊपर जाकर मानिकलाल भाई से फिर विनय की कि आप कहीं दूसरी जगह चले जाइये. अभी मौक़ा है और हम आप को निकाल सकते हैं. लेकिन या तो मानिक लाल भाई के सर पर होनी सवार थी और या बाहर निकलने के बजाय उनको घर पर रहना ज़्यादा महफ़ूज़ मालूम हुआ, इसलिये उन्होंने दोनों भाइयों को यह कह कर लौटा दिया कि आपके रहते हमको कोई ख़तरा नहीं है.

उस वक़्त मानिकलाल भाई ने शायद ही यह सोचा हो कि इस रस्मी जवाब से दोनों भाई अपने ऊपर कितनी ज़िम्मेदारी समझ रहे हैं.

दोपहरी किसी तरह कटी और शाम होने लगी. क़रीब पाँच बजे मानिकलाल भाई ने महसूस किया कि एक जुलूस फिर उनके मकान की ओर आ रहा है. उनका लड़का और लड़की जुलूस को देखने बाहर छज्जे पर जा खड़े हुए. जुलूस ने भी इन बच्चों को देखा और फ़ौरन ही जुलूस से आवाज़ें आने लगीं—"यह तो हिन्दू हैं. इनको नीचे लाओ. यह काफ़िर के बच्चे यहाँ कैसे बचे हुए हैं ?"

मकान के निचले हिस्से में जो मुसलमान किरायेदार थे, उन्होंने भीड़ को समझाना चाहा, लेकिन 'मज़हब के दीवाने' कभी ऐसी बेकार की बात नहीं सुना करते ! रमज़ान और महमूद उस वक़्त किसी और जगह गये हुए थे, इस लिये भीड़ धड़धड़ाती हुई ऊपर चढ़ गई और दरवाज़े को डंडों से पीटने लगी. यह देखकर मानिकलाल भाई ने दरवाज़ा खोल दिया और कड़क कर बोले—"क्या बात है ? इतना शोर क्यों मचाते हो ? हमने तुम्हारा क्या बिगाड़ा है ?"

भीड़ में से एक ने चीख़ कर कहा—"पकड़ो साले को, बड़ा शरीफ़ बना फिरता है. मार डालो." लेकिन किसी दूसरे आदमी ने उस गुन्डे का उठा हुआ हाथ थाम कर कहा—"नहीं ! इनसे तो पैसा लेना है. मार कर हमको क्या मिलेगा."

मानिक लाल ने पांच सौ रुपये देकर इस भीड़ से अपनी जान बचाई.

भीड़ के वहाँ से जाने के बाद ही महमूद घर लौटा और रास्ते में खोज ख़बर लेने के लिये वह मानिक लाल भाई के भी घर आ पहुँचा. यह घटना सुनकर उसे बहुत दुख हुआ. अब मानिक लाल भाई जाने को तय्यार भी थे, पर अब सवारी मिलना नामुमकिन था. आख़िर यही फ़ैसला हुआ कि अब तो घर में ही बैठा जाय.

रात होते ही महमूद फिर आया और उसने मानिक लाल भाई के घर ही सोने का इरादा ज़ाहिर किया. लेकिन ऐसे बलवे के वक़्त मानिक लाल भाई ने महमूद को उसके ख़ानदान से दूर रखना ज़्यादती समझा

और उसे घर वापस भेज दिया. इस तरह जब पूरे कलकत्ते भर में हिन्दू मुसलमान एक दूसरे के गले पर हैवानों की तरह छुरी चला कर 'अपने अपने धरम की हिफ़ाज़त' कर रहे थे, उस वक़्त मानिक लाल भाई और रमजान महमूद के बीच इस तरह की प्रेम भरी खींचातानी चल रही थी, हालां कि दोनों के बीच कोई पिछली गहरी जान पहिचान तक नहीं थी.

यह रात मानिकलाल भाई ने जागते ही काटी. सुबह हुई और ज्यों-ज्यों सूरज चढ़ता गया, त्यों-त्यों 'मारो-काटो' की आवाजें और बेबसों की चीख़ पुकार भी बढ़ती ही गई. आज हिंन्दुओं ने भी अपने जौहर दिखाने शुरू कर दिये थे. दलील यह थी कि बलवाई मुसलमानों से अपनी हिफ़ाज़त का सिर्फ़ यही इलाज है. लेकिन तमाशा यह था कि बलवाई मुसलमान अपने हल्क़े में घिरे हुए जिन हिन्दुओं को नुक़सान पहुँचा सकते थे और पहुँचा रहे थे, वहाँ इन 'वीर हिन्दुओं' में से कोई झाँकता भी नहीं था और अपने हल्क़े में घिरे हुए जिन इक्के दुक्के मुसलमानों पर यह अपनी वीरता दिखा रहे थे, वह मुसलमान चाह कर भी हिन्दुओं को क़तई नुक़सान नहीं पहुँचा सकते थे. ख़ुद बलवा पसन्द मुसलमान भी यही चाहते थे कि हिन्दू हल्क़ों में घिरे हुए मुसलमान मारे जायँ, जिससे उन 'ग़द्दार मुसलमानों' का मुँह बन्द किया जा सके, जो उनको लूटमार करने से मना करते थे. इस वक़्त दोनों तरफ़ के गुण्डों के पौबारह थे और इस नायाब मौक़े से वह ज़्यादा से ज़्यादा फ़ायदा उठा लेना चाहते थे. इसीलिये हिन्दू और मुसलमान दोनों में ऐसी अफ़वाहों का ज़ोर था, जिससे बलवा अपने असली रूप से सौ गुना ज़्यादा भयानक हो गया था. यह अफ़वाहें दोनों तरफ़ के जोश को उभाड़ने में शराब का काम दे रही थीं और जो लोग इन अफ़वाहों पर यक़ीन न करने के लिये समझाते थे, वह सब 'ग़द्दार' क़रार दे दिये गये थे.

इस दिन मानिक लाल भाई के मकान पर फिर एक हमला हुआ और मानिक लाल भाई ने कपड़े और बर्तन देकर अपनी जान बचाई. मानिक लाल भाई समझ गये कि अब जान बचनी मुश्किल ही है.

इसी दिन यानी १७ अगस्त को शाम के पाँच बजे एक भीड़ फिर मानिक लाल भाई के मकान पर पहुँची. दरवाज़े पर हथौड़े पड़ने लगे. नीचे के मुसलमान पड़ोसी भीड़ की ख़ुशामद कर रहे थे, लेकिन उनको डाँट दिया गया और वह चुपचाप अलग खड़े हो गये. मानिक लाल भाई ने यह ख़याल करके कि दरवाज़ा तो टूट ही जायगा, ख़ुद ही दरवाज़ा खोल दिया. उनकी सोलह बरस की लड़की अपने बाप की हिफ़ाज़त के लिये मानिक लाल भाई के पास आकर खड़ी हो गई. उसे देख कर मज़हब के दीवाने गन्दी से गन्दी बातें करने लगे. मानिक लाल भाई बेबस बने यह सब सुन रहे थे. कुछ क्षणों के बाद गुण्डों ने सलाह की कि पहले इस बुड्ढे को तो ठिकाने लगा दिया जाय, औरतों का बँटवारा पीछे हो जायगा. अब भीड़ ने मानिक लाल भाई को बाहर खींचने की कोशिश की ही थी कि दो मुसलमान नौजवानों ने भीड़ को चीर कर रास्ता रोक लिया और गरज कर बोले—"ख़बरदार! जो किसी ने हाथ लगाया. माल चाहिये तो माल ले जाओ, लेकिन इन बेबस इन्सानों पर हाथ नहीं डाल सकोगे."

यह महमूद और रमज़ान थे, जो मानिकलाल भाई के घर पर हमला होने की खबर सुनकर अपने घरों से भाग कर आये थे.

अब भीड़ से और महमूद से बहस होने लगी. महमूद क़ुरान शरीफ़ के हवाले पर हवाले दे रहा था कि उसमें अल्लाताला ने किस तरह अपने पड़ोसियों और दूसरे मज़हब के लोगों से अच्छा बर्ताव करने का सबक़ दिया है और भीड़ हिन्दुओं के ज़ुल्मों की मिसालें दे रही थी. महमूद कहता था कि जिन हिंदुओं ने ज़ुल्म किया है, उनसे चल कर लड़ो और मैं तुम्हारा साथ दूंगा, इस पर भीड़ झल्ला उठी. फ़ौरन कुछ नौजवानों ने लोहे के मोटे डन्डों से महमूद को पीट पीट कर नीचे गिरा दिया. मज़हब के काम में जो रुकावट डाले, भला उसे ज़िन्दा रहने का क्या हक़? कुछ ही देर में महमूद की खून से लथपथ लाश पड़ी हुई थी.

रमज़ान ने अपने भाई को इस तरह से गिरते हुए देखा और समझ

लिया कि अगर उसने भी भीड़ को रोका तो उसकी भी यही हालत होगी. फ़िर भी भीतर जाकर उसने माँ, बेटे और बेटी को एक कमरे में बन्द कर दिया और ख़ुद उसके दरवाज़े पर पैर जमा कर खड़ा हो गया. भीड़ जैसे ही आगे बढ़ी उसने अपने रास्ते में रमज़ान की शक्ल में इस दूसरी दीवार को पाया. लेकिन धरम और दीन के दीवाने कहीं ऐसी मुश्किलों को मुश्किल समझते हैं ? फ़ौरन ही रमज़ान पर भी वार होने लगे और कुछ ही देर में वह भी अपने भाई से जा मिला. मानिकलाल भाई का सब परिवार अब बाँध लिया गया और उनको नीचे सड़क पर ले जाया गया, जिससे कि उन सबको ज़रा तड़पा तड़पा कर मारा जा सके. कम से कम एक दूसरे के क़त्ल को तो वह देख ही सकें. बहादुरी का जज़्बा इस वक़्त अपनी आख़िरी हद पर पहुँचा हुआ था.

मानिकलाल भाई और उनका सब ख़ानदान सड़क पर खड़ा कर दिया गया. अब बहस यह थी कि पहिले किसे ठिकाने लगाया जाय. बाप को या बेटे को ? माँ और बेटी को तो क़त्ल करने का कोई सवाल ही नहीं था, उनको तो सिर्फ़ यह तमाशा दिखाना था. यह बहस किसी फ़ैसले पर पहुँची ही थी कि फ़ौजी लारियों की गड़गड़ाहट गूँज उठी और गोलियों की आवाज़ें आने लगीं. बस, इन आवाज़ों का आना था कि मज़हब के दीवाने वीर भाग खड़े हुए. रमज़ान और महमूद के समझाने पर और क़ुरान शरीफ़ के हवालों पर जो नहीं मानना चाहते थे, उनकी बहादुरी का तमाम जोश बन्दूक़ की एक आवाज़ ने ठंडा कर दिया. इस तरह मानिकलाल भाई और उनका ख़ानदान मौत के किनारे पहुँच कर भी बच गया.

फ़ौजियों ने इस ख़ानदान को अपनी लारियों पर चढ़ाया, लेकिन तभी मानिकलाल की बीबी लारी से उतर कर ऊपर की ओर भागीं. फ़ौजियों ने उनको रोकना चाहा तो उन्होंने कहा कि मेरे दो बेटों की लाशें तो ऊपर पड़ी हैं. अरे उनको एक बार आँख भर कर देख तो लेने दो."

फ़ौजियों को दया आ गई और वह पूरे ख़ानदान को ऊपर ले गये.

वहाँ यह ख़ानदान महमूद और रमज़ान की लाशों पर इस तरह बिलख बिलख कर रोया कि कुछ देर के लिए मकान की दीवारें भी पिघलती जान पड़ीं. नीचे के मुसलमान पड़ोसी हैरान थे, कि जब पूरा ख़ानदान बच गया है, तब इस तरह 'हाय हाय' क्यों मचा रहा है. उन्होंने अन्दाज़ लगाया शायद माल के लिये. हाँ सचमुच माल के लिये पर यह तो वह बाद में जान सके कि यह "माल" किस तरह का था और कितना क़ीमती था.

फिर यह ख़ानदान बड़ा बाज़ार के थाने में पहुँचा दिया गया, वहाँ पाँच दिन रहने के बाद उसे एक दोस्त के यहाँ पनाह मिल गई.

आज भी मानिकलाल भाई और उनका पूरा ख़ानदान कलकत्ते में ही है. जब भी सोलह अगस्त आती है, मुसलमानों के ज़रिये बरबाद हुए उस ख़ानदान के दिल में दो मुसलमान नौजवानों के लिये आंसू उमड़ पड़ते हैं, जिनकी वजह से वह आज भी इस दुनिया में हैं. माँ और बेटी तो यह सोच कर ही काँप उठती हैं कि अगर रमज़ान और महमूद अपनी जान देकर उनकी हिफ़ाज़त न करते तो आज उनकी क्या गति होती.

महमूद की दूकान भी आज वहीं पर है. उस पर रमज़ान और महमूद की प्यारी शकलें अब नहीं दिखाई देतीं, पर जब भी वहाँ से निकलती हूँ कोई यह कहता जान पड़ता है—

"बहेन ! मुसलमान कैसे होते हैं और इस्लाम क्या है, इसका अन्दाज़ा उन लोगों से मत लगाना जो उस वक़्त तुम्हारे अज़ीज़ों की जान और इज्ज़त के गाहक हो रहे थे. इस्लाम की तालीम का एक छोटा सा नक़शा हमने अपने खून से खींच दिया है, और सच मानो कि इस्लाम की सच्ची तालीम यही है."

और मुझमें तो ताक़त नहीं कि अपने इन दोनों शहीद भाइयों के इस सन्देशे को मानने से इनकार कर सकूँ.

[नीचे लिखा खत अहमदाबाद के भाई हेमन्त कुमार ने ८ जुलाई १९४६ को बापू को लिखा था—सम्पादक]

"कल के दंगे में श्री बसन्तराव हेंगिष्टे और जनाब रजब अली का दंगा रोकने की कोशिश करते हुए एक साथ, एक जगह ख़ून हो गया. पहले वह दंगे को दबाने के लिये रिचीं रोड (गांधी रोड) की तरफ़ रवाना हुए. रास्ते में उन्होंने देखा कि हिन्दुओं का एक दल किसी मुसलमान का ख़ून करने के लिये उस पर टूट पड़ा है. उन्होंने हमलावर हिन्दुओं से कहा—"पहले हमी को मार डालो, फिर इन्हें मारना." अपने इन दृढ़ता भरे शब्दों और ऐसे मज़बूत रुख़ की वजह से वह उस मुसलमान को बचा सके. वहाँ से वह सूबा कांग्रेस कमेटी के भद्र वाले मकान पर पहुँचे. वहाँ उन्हें मालूम हुआ कि जमालपुर में एक हिन्दू मुहल्ले के चारों तरफ़ मुसलमानों की बस्ती है और वहाँ के हिन्दुओं की जान और माल ख़तरे में है. इसलिये वह मुसलमानों को समझाने चल पड़े. वहाँ दोनों पर खंजरों से सख्त हमले किये गये और दोनों वहीं काम आये. हिन्दू मुसलमान दोनों का ख़ून साथ ही बहा. श्री बसन्त राव कोई ३२ साल के जवान थे. सन् १९३० में धरासना के हमले के वक़्त से वह कांग्रेस की लड़ाइयों में हमेशा शामिल होते रहे थे. वह हिन्दुस्तानी सेवा दल के एक अगुआ थे. जनाब रजब अली भी भावनगर और धंदूका के एक खास काम करने वाले थे. उन्होंने भी कांग्रेस की लड़ाइयों में ख़ासा हिस्सा लिया था. वह भी हिन्दुस्तानी सेवा दल के मेम्बर थे. उनकी उम्र क़रीब २५ साल की थी.

"इस तरह एक हिन्दू और एक मुसलमान ने हाथ से हाथ मिला कर दंगे का शुद्ध अहिंसक ढंग से सामना किया और अपनी जान क़ुरबान करके दोनों शहीद हुए."

बाबा साहेब बसन्तराव हेंगिष्टे

[अहमदाबाद में जब हिन्दू मुसलमान धर्म और दीन के नाम पर एक दूसरे का गला काट रहे थे और कायरों की तरह अन्धेरी गलियों में छुरेबाज़ी कर रहे थे, तब दादा बसन्तराव हेंगिष्टे और श्री रजब अली नाम के दो नौजवान दोस्तों ने इस आग को ठण्डा करने के लिये अपने अनमोल प्रानों का दान दिया था. सचाई और अहिंसा की तलवार लेकर यह दोनों जीवन-मरन के साथी अपने प्यारे हिन्दू धर्म और इस्लाम की लाज बचाने के लिये इन्सान का ख़ून बहाने वाले गुण्डों के मुक़ाबले में अचल रूप से आ खड़े हुए थे और फिर हँसते हँसते शहीद हो गये थे. इन दोनों शहीद भाइयों की कथा बसन्तराव जी की सगी बहेन श्रीमती हेमलता हेंगिष्टे ने अपने आँसुओं से गुजराती में लिखी है, जिसका नीचे दिया हुआ आज़ाद तर्जुमा विजयगढ़ (अलीगढ़) के एक बुज़ुर्ग श्री बाबा रूपकिशोर जी जैन ने किया है. अहमदाबाद के दोस्तों ने तो इन शहीदों की याद में गुजराती और मराठी ज़बान में एक बड़ी किताब निकाली है, जिसमें इन शहीदों के मुख़्तलिफ़ दोस्तों और अज़ीज़ों ने इनकी शहादत पर अपनी श्रद्धा (अक़ीदत) के फूल चढ़ाये हैं. हमको चाहिये कि हम इन शहीदों की क़ीमत को समझें और जहाँ जहाँ इस तरह की घटनायें हुई हों, वहाँ पर मुक़ामी तौर पर इसी तरह की किताबें बड़ी तादाद में निकाली जायँ. हमको यह याद रखना चाहिये कि उस घटाटोप अन्धेरे के वक़्त, जब हम हद दर्जे की कमीनी कायरता को बहादुरी, सबसे बड़े पाप को धरम और सबसे बड़ी ग़द्दारी को देशभक्ती

समझ कर अपने देश, धरम और इन्सानियत की जड़ें तक खोद डालने के लिये तय्यार थे, तब हमारी गालियाँ खाते हुए भी हमको सही रास्ते पर लाने की कोशिश में अपनी जान तक क़ुरबान कर देना कोई आसान काम नहीं था. यह तो जीते जी अपने को आग में झोंकना था. ऐसी ऊँची क़ुरबानी और शहादत का जज़्बा इनमें कैसे पैदा हो सका, इसका जवाब इन शहीदों की खास तौर पर बाबा साहेब बसन्तराव हेंगिष्टे की याद में लिखे गये उनकी बहेन के इस लेख से मिल जाता है, जिससे साबित होता है कि बसन्तराव जी एक बड़े देशभक्त होने के साथ साथ कितने बड़े ईश्वर भक्त थे और उनको अपने हिन्दू धर्म पर कितना गहरा यक़ीन और उसके लिये अपने दिल में कितना अभिमान था. बहेन हेमलता जी के इस लेख के लिये मैं उनका एहसानमन्द हूँ.—सम्पादक]

"तीन कार्यकर्ता—दो हिन्दू और एक मुसलमान—दंगा मिटाने के ख़याल से गये और इसी कोशिश में काम आये. मुझे उनकी मौत का दुख नहीं होता, रूलाई नही आती. इसी तरह श्री गणेश शंकर विद्यार्थी ने कानपुर के दंगे मे अपनी जान क़ुरबान की थी. दोस्तों ने उनको रोका और कहा था—'दंगे की जगह न जाइये. वहाँ लोग पागल हो गये हैं. वह आपको मार डालेंगे.' लेकिन गणेश शंकर विद्यार्थी इस तरह डरने वाले नहीं थे. उन्हें यक़ीन था कि उनके जाने से दंगा ज़रूर मिटेगा. वह वहाँ पहुँचे और दंगे के जोश में पागल बने लोगों के हाथों मारे गये. उनकी मौत का समाचार सुनकर खुशी ही हुई थी. मैं तो आपको यह समझाना चाहता हूँ कि आप मरने का सबक़ सीख लें तो सब ख़ैर ही ख़ैर है. अगर गणेश शंकर विद्यार्थी, बसंतराव और रज्जब अली जैसे कई नवजवान निकल पड़ें तो दंगे हमेशा के लिये मिट जायँ."

—बापू.

आज के शहीद
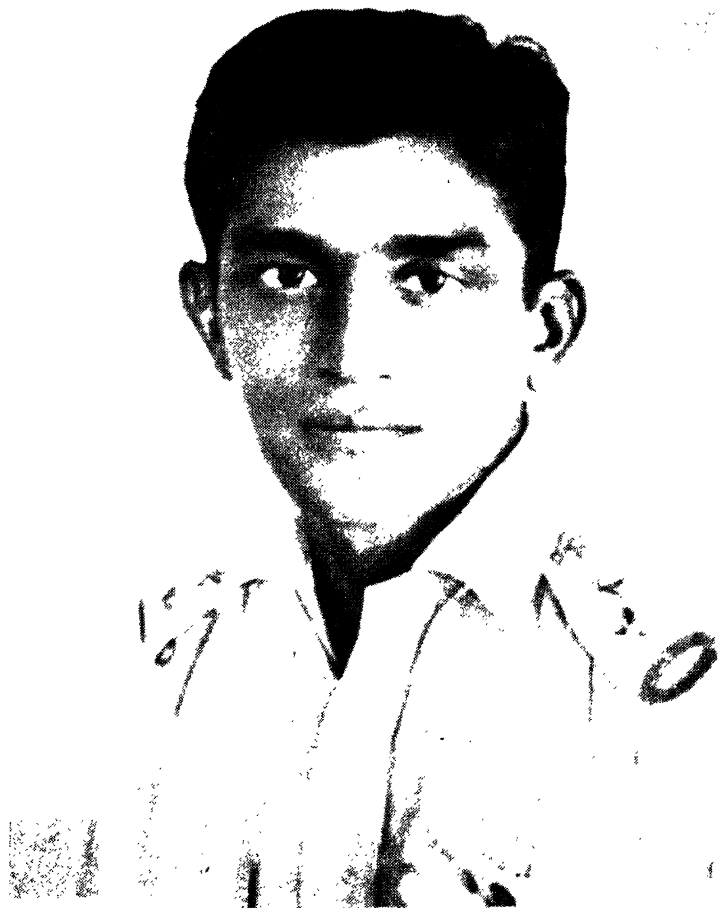
श्री बसन्त राव हेंगिष्टे

भैया बसन्तराव हेंगिष्टे की याद में

(बहेन हेमलता हेंगिष्टे)

बसन्तराव को घर के तमाम लोग बाबा साहेब कहते थे और इसमें कोई शक नहीं कि बसन्तराव अक़्ल और धीरज में हम सभी से बढ़ चढ़ कर था भी. आज उनकी याद को उकसाने वाली बहुत सी घटनाओं को नज़रन्दाज़ करके मैं सिर्फ़ कुछ घटनाएँ लिख रही हूँ.

एक बार हमारी दादी माँ बीमार थीं. उस वक़्त बाबा साहेब जेल में थे. यह बात जून १६३० की है. दादी माँ को बाबा साहेब से बड़ा प्रेम था और साथ ही, बड़ी होते हुए भी, वह उसे बड़ी इज़्ज़त की निगाह से देखने लगीं थीं, क्योंकि बाबा साहेब बहुत ही चुस्त, जोशीले और कट्टर गान्धी भक्त थे. चूँकि बाबा साहेब सत्याग्रह में भाग ले रहे थे, इसलिये बहुत से लोग उनकी बड़ी इज़्ज़त करने लगे थे. एक दिन मेरी तबियत बहुत बिगड़ी. सोचा, दादी माँ शायद इस बार नहीं बचेंगी. दादी माँ कहती थीं—"अब हमारा साधु जल्द ही छूटने वाला है. मुझे कैसी ही तकलीफ़ हो, लेकिन अन्तकाल में तो मुझे शान्ति ही मिलेगी." हुआ भी यही. बाबा साहेब जेल से छूटे नहीं कि दादी माँ का प्रान पखेरू उड़ गया. ऐसा लगा, जैसे बाबा के छूटने की खबर के इन्तज़ार में ही उनके प्रान अटके हुए थे.

बाबा साहेब को दादी माँ क्या, हम तमाम घर के लोग ऐसे ही प्यार और श्रद्धा की नज़र से देखते थे.

दूसरी बात, जो मुझे आज बार बार याद आती है, उस वक़्त की है, जब मैं चार बरस की थी. तब गान्धी जी दान्डी यात्रा को जा रहे थे और उनके साथ जाने वालों में से एक हमारे पिता जी भी थे. लेकिन ऐसी भीड़ में मुझे भला कौन ले जाता ? मेरी ख़ुद किसी से कहने की हिम्मत नहीं पड़ रही थी. लेकिन रात को मैंने बाबा साहेब से डरते डरते पूछा—"क्या मुझे भी कल इस यात्रा को दिखा दोगे ?" बाबा साहेब ने तुरन्त मेरी बात मान ली.

दूसरे दिन बाबा साहेब के साथ मैं यात्रा देखने चली, तो आसानी से गान्धी जी के पास तक पहुँच गई. पीछे तो लाखों की भीड़ हो गई. आख़िर इतनी भीड़ हो गई कि चलना मुश्किल हो गया. इस पर कठिनाई यह थी कि हमें नदी पार करनी थी, जिसमें काँटे और कंकर पत्थर बहुत थे. फिर भी बाबा साहेब मुझे नदी पार तक ले ही गये.

दूसरों को सुखी देखने और उनकी इच्छा पूरी करने के लिये बाबा साहेब शुरू से ही कभी अपने निजी सुख-दुख, सुविधा-असुविधा का ख़याल ही नहीं करते थे.

जब हम भाई बहन और घर के दूसरे लोग एक साथ बैठकर बात चीत करते थे, तब बाबा साहेब जिस धीरज से हमारी बातें सुनते थे और जिस मीठेपन और अक़्लमन्दी से उसका जवाब देते थे, उसकी याद आते ही आज भी मेरा कलेजा टुकड़े टुकड़े होने लगता है.

बाबा साहेब के बचपन की एक घटना भी लिखने लायक़ है, जिसे याद करके उनकी ज़िन्दगी में वह ख़ुद और हम सब ख़ूब ही हँसते थे, लेकिन आज तो वह भी हमारी आँखों में पानी ही लाती है.

घटना यह है कि हमारे यहाँ एक मास्टर थे जिनकी यह आदत थी कि वह अपने विद्यार्थियों को अजीब अजीब नामों से पुकारते थे, जिससे विद्यार्थी बहुत शर्माते और चिढ़ते थे. बाबा साहेब बचपन में शरीर से बेहद दुबले पतले थे, इसलिये मास्टर साहब उनकी तन्दुरुस्ती का ही मज़ाक़ उड़ाया करते थे और उनको पीटते भी बहुत थे. इस पर बाबा

साहेब को अपनी तन्दुरुस्ती ठीक करने की धुन सवार हुई. जब हम सब उनसे इस बारे में पूछते, तो वह कहते कि छः महीने के भीतर भीतर मुझे इस मास्टर को ज़रूर पीटना है. इसके लिये अपने शरीर को तन्दुरुस्त कर रहा हूँ. पर बाबा साहेब का यह ख़याल पूरा नहीं हो सका, क्यों कि भगवान् ने मास्टर साहब को यह मियाद ख़त्म होने से पहिले ही, बाबा साहेब से उनकी हिफ़ाज़त करने के लिये अपने पास बुला लिया. लेकिन बाबा साहेब की वह धुन जारी रही और आख़िर में तो उनका शरीर इतना मज़बूत हो गया था कि वह मोटर को अपनी छाती पर से उतार लेते थे.

इसी तरह एक बार उनको तलवार चलाना सीखने की धुन सवार हुई. उसका अभ्यास करते हुए एक बार उनको तलवार का ज़ख़्म लग गया. जो उस्ताद उनको तलवार घुमाना सिखाते थे, वह भी उस ज़ख़्म को देख कर सहम गये और उन्होंने डाक्टर को बुलाया. डाक्टर ने उनको आराम करने की सलाह दी. लेकिन बाबा साहेब उसी तरह काम करते रहे, जिसे देख कर डाक्टर भी चकित रह गया. बाबा साहेब तब कहा करते थे कि शरीर मज़बूत होते ही मेरा मन भी मज़बूत हो गया है.

अगर वह अपने मन में कभी कोई कमज़ोरी पाते थे, तो उस पर उनको बड़ी शर्म महसूस होती थी. एक बार जेल में उनको मलेरिया हुआ. डाक्टरों ने इस पर कुनेन दी, लेकिन बुख़ार छूटता ही नहीं था. इस पर भी बाबा साहेब ख़ुद ही पाख़ाने वग़ैरह की ज़रूरतों से फ़ारिग़ हो लेते थे. किसी दूसरे को अपने लिये तकलीफ़ देना उन्होंने कभी पसन्द नहीं किया. लेकिन इसका नतीजा यह हुआ कि उनको सर्दी लग गई और उनको ऐसा महसूस होने लगा कि अब वह अपने घर ज़िन्दा नहीं लौट सकेंगे. यह ख़याल करके एक बार उनकी आखों में आँसू आ गये. लेकिन दूसरे दिन जब बुख़ार कुछ कम हुआ तब उनको अपने मन की इस कमज़ोरी पर बेहद शरम आई. इस तरह से अपनी कमज़ोरियों की वह हमेशा कड़ी जाँच पड़ताल करते थे, तभी तो

वह उस भयानक आग में ऐसी आसानी से कूद गये, जैसे फूलों की वेदी पर बैठ रहे हों.

कभी कभी वह बड़ी अनोखी बातें कर दिखाते थे. उसी जेल में होने वाली मलेरिया की ही कहानी है. उसने उनका पीछा जेल से छूटने पर भी नहीं छोड़ा. हमारे घर में डाक्टरी दवा बहुत ही कम आती है और क़ुदरती इलाज पर ही सबका यक़ीन है. बाबा साहेब का भी इसी ढंग से काफ़ी इलाज हुआ, लेकिन जूड़ी ने पीछा नहीं छोड़ा. इस पर आब-हवा बदलने के लिये वह रत्नागिरी चले गये, लेकिन पूरे ढाई महीने तक वहाँ रहने पर भी उनकी सेहत में सुधार नहीं हुआ. आखिर फिर वापस अहमदाबाद आ गये और जब एक दिन इस रोज़ रोज़ की जूड़ी से बहुत परेशान हो गये, तो पलथी मार कर एक पत्थर पर जा बैठे और प्राणायाम करते हुए तमाम रात उसी पत्थर पर बैठे रहे. बस उसी दिन से उनको जूड़ी का आना भी छूट गया.

हमारे दादा बड़े ईश्वर भक्त थे. उनकी इस विरासत को बाबा साहेब ने पूरी तरह संभहाला और उसकी हिफ़ाज़त की. दादा जी की किताबों में से 'रामायण' 'महाभारत' वगैरह निकाल कर वह बचपन से ही पढ़ा करते थे. लेकिन किसी बात पर आँख मींज कर यक़ीन कर लेने की आदत उनमें नहीं थी. वह जब छोटे थे तो 'रामायण' पढ़ते वक़्त अक्सर पिता जी से, "राम ने सीता को क्यों छोड़ दिया था ?" जैसे सवाल पूछ बैठते थे. हर एक बात को अक़्ल की कसौटी पर कसने की आदत उनमें आखीर तक रही.

हिम्मत तो उनमें ग़ज़ब की थी. सत्याग्रह के ज़माने में मीठानगर की छावनी पर पुलिस ने जब हमला किया, बाबा साहेब निहत्थे ही पुलिस की लाठियों के सामने जम गये. घर में खबर आई कि बहुत चोट लगी है. दादी माँ तो इस खबर को सुन कर रोने लगीं और ईश्वर से प्रार्थना करने लगीं कि हे प्रभो ! इस बालक की रक्षा करना. परोपकार के काम में गया है, सो उसे जीता जागता वापस ले आना."

प्रभो ने प्रार्थना सुन ली और बाबा साहेब को जैसे दूसरी ज़िन्दगी मिली. वह जब घर वापस आये और कपड़े उतार कर नहाने बैठे, तो चोटों से काले पड़े हुए उनके शरीर को देख कर सबकी आँखों से आँसू बहने लगे. इस पर बाबा साहेब हँसकर बोले—"भला लाठी की मार खाकर स्ट्रेचर पर मज़े में सोजाने में भी कुछ मेहनत पड़ती है. लाठी खाने में तो बड़ा मज़ा आता है और देश के काम की लगन भी बढ़ती है."

बाबा साहेब के स्वभाव की उदारता की भी एक घटना लिख दूँ. एक बार बाबा साहेब की सोने की घड़ी बाबा साहेब के पास रहने वाले एक स्वयं सेवक ने चुरा ली. हमारे मकान में माणिकलाल नाम के एक किरायेदार रहते थे. वह फ़ौरन ताड़ गये कि घड़ी उस स्वयं सेवक ने ली है. लेकिन बसन्तराव के डर से वह उससे कुछ ज़्यादा पूछ ताछ न कर सके. लेकिन जब बाबा साहेब बाहर गये, तब माणिकलाल ने उस स्वयं सेवक के सामान की तलाशी ली और उसके चर्खे में, जहाँ रुई की पूनियाँ रक्खी थीं, वहाँ से घड़ी बरामद कर दिखाई. इसके बाद माणिकलाल ने उस स्वयं सेवक को ख़ूब लानत मलामत की, पर बसंतराव ने उससे एक शब्द भी नहीं कहा. कुछ दिनों बाद बाबा साहेब फिर उसी आदमी को बड़े प्रेम से अपने घर लाये और खाना खिलाया. दूसरों के बारे में वह हमेशा इसी तरह की भावनाएँ ज़ाहिर करते थे.

बाबा साहेब को तरह तरह की कलाओं में भारी दिलचस्पी थी. हमारे यहाँ गणेश जी का त्यौहार मनाया जाता है. सन् १९३० तक बाबा साहेब अपनी गणेश जी की मूर्ति को बड़ी सुन्दरता से सजाते थे. गाने, बजाने, तस्वीरें बनाने, अभिनय करने में उन्होंने खासी तरक़्क़ी की थी. क़ुदरती इलाज में उन्होंने अभ्यास किया था और घर में कोई बीमार पड़ता था, तो बड़ी लगन से उसका इलाज वह ख़ुद ही करते थे, जिसमें उनको सौ फ़ीसदी कामयाबी होती थी.

बाबा साहेब को कुश्ती लड़ने का भी शौक़ था. कई अच्छी कुश्तियाँ उन्होंने जीती थीं. कभी-कभी किसी कमज़ोर और मामूली पहलवान को

हिम्मत देने के लिये उससे जान बूझ कर हार भी जाते थे. हमारे देश का बच्चा बच्चा मज़बूत बने, यही लगन उनको दिन रात रहती थी.

घर में जब कोई अछूत आता था, तो वह उसे प्रणाम करते थे. जाति पाति का भेद भाव तो उनके दिल में नाम को भी था ही नहीं. एक बार जेल से एक पठान को वह ऐसा दोस्त बना कर निकले कि अगर पठान से कोई उनकी बाबत पूछता, तो पठान बताता कि मैं इनका नौकर हूँ. वह जिससे एक बार मिल लेते थे, बस वह उनका ही हो जाता था.

आख़िर ७ जुलाई १६४६ का दिन भी आया. शहर भर में उन दिनों भारी मार काट मच रही थी. लेकिन रज्जब भाई के साथ बाबा साहेब बाहर को चले. किसी ने पूछा—"कहाँ जा रहे हो?" तो बाबा साहेब ने कहा—'मेरे रास्ते में रोड़े मत बनो. जहाँ मेरी ज़रूरत है, वहाँ मैं ज़रूर जाऊँगा."

क़रीब साढ़े पाँच या छह बजे बाबा साहेब घर लौटे. वह पानी पीने के लिये आये थे. मैं अभागिन पूछ बैठी—"काँग्रेस हाउस में क्या पानी पीने को नहीं था?" इसका कोई जवाब नहीं मिला. मैंने देखा कि वह फिर चल देने के लिये चप्पल पैर में डाल रहे हैं.

इसके घन्टे भर बाद सात-साढ़े-सात बजे यह दिल दहलाने वाली ख़बर मिली, जिसे सुन कर हम सबने सर पीट लिया. हम सब फ़ौरन अस्पताल पहुँचे. वहाँ हमने देखा कि उनका सोने का सा शरीर निर्जीव हुआ पड़ा है. चेहरे पर न कोई डर था न रंज. आँखें खुलीं हुई थीं और होठों पर मुस्कराहट थी, मानो मौत के साथ भी हँसी मज़ाक चल रहा था.

इस तरह हमारा बाबा साहेब हमेशा के लिये हमसे बिछुड़ गया. वह हँसते हँसते सदा के लिये सो गया और हम अभागे ज़िन्दगी भर रोने के लिये बाक़ी रह गये.

रज्जब भाई

(बहेन हेमलता हेंगिष्टे)

रज्जब अली को हम रज्जब भाई कहते थे. वह सिर्फ़ एक महीना ही हमारे घर पर रहा था, लेकिन इतने थोड़े वक़्त में ही वह हम सब में ऐसा हिल मिल गया था कि हम सब उसे अपने घर के ही आदमियों में शुमार करते थे, इसके बाद वह अपने एक दोस्त के यहाँ चला गया. जो नतरंगपुरा में रहते थे. लेकिन हमारे यहाँ वह उसी नियम से आता था. अक्सर जब वह खाना खाने बैठता, तो "यह चीज़ किस तरह पकाई है, इसमें कौन कौन से विटामिन हैं ?' वग़ैरह सवाल किया करता था, जिसमें खासा हँसी मज़ाक रहता था.

हम सब कभी कभी रात को एक साथ बैठकर गप-शप किया करते थे. रज्जब भाई की आदत थी कि उस गप शप के बीच वह गणित के पेचीदा सवाल पूछा करता. जब हम लोग उन सवालों का जवाब न दे पाते तो उनको बड़े अच्छे ढंग से समझाता था. फ़िज़ूल की गप शप में भी हमको कुछ न कुछ सीखते रहना चाहिये, शायद इसी भाव से वह ऐसा करता था.

सपनों के बारे में वह बड़ी दिलचस्पी से बात करता था. इस बारे में उसने काफ़ी पढ़ा और काफ़ी विचार किया था. इसलिये जब सपनों के बारे में वह बातचीत करने लगता, तो ऐसा मालूम होने लगता था कि जैसे कोई बहुत बड़ा पंडित बोल रहा है. सपने क्यों आते हैं, उनका

हमारी ज़िन्दगी पर क्या असर पड़ता है, या क़ुदरत के साथ उनका क्या ताल्लुक़ है, यह सब बातें वह बड़ी सफ़ाई के साथ इस तरह समझा देता कि एक मामूली बच्चा भी समझ जाय. उसकी बुद्धि को देख कर हम सब ताज्जुब करते थे.

हमारे घर आते ही वह पहिले हमारी एक बहेन बिजुनी को तलाश करता था, क्योंकि वह बड़ी शैतान थी. इसके बाद ऐसी खींचातानी और भाग दौड़ होती कि हँसते हँसते पेट फूल जाता था. यह बात याद रखने की है कि रजब भाई में हमेशा खिलाड़ी पन रहा. खुद हँसने और दूसरों को हँसाने के लिये ही जैसे वह हमारे घर आता था.

२४ अप्रेल १६४६ को हमारे घर जब बसन्त का त्यौहार मनाया गया, तो उसमें रजब भाई को भी बुलाया गया. उस दिन वह रात को भी घर पर ही रहा और हम सब बड़ी देर तक बातचीत करते रहे. उस वक़्त हममें से कौन जानता था कि कुछ ही दिनों में हम अपने इस प्यारे भाई की सूरत देखने के लिये भी तरसा करेंगे और यह हमेशा के लिये हमारी आँखों से ओझल हो जावेगा.

आज भी उसकी याद हमारे दिल में टीस सी पैदा कर देती है.

———

प्रतिज्ञा

शचीन दा—

आँखों के आगे से तेरी चमकीली सूरत खिसक गई,
पर दिल के कोने में घुस कर वह आज और भी चिपक गई.
थी चाह निराली एक स्वर्ग का राज बसाने की भारी,
बन गई तुम्हारी क़ुरबानी उस राज महल की ही ताली.

हाथों में लेकर फूल और आंखों में यह आँसू भर कर
आयेंगे सब मिल कर शहीद की,

इस अनुपम पावन समाधि पर.
जो लगा दिया है तूने अपने ख़ूँ से,
यह लाल तिलक हम लोगों के माथे पर,
उसे कभी मिटने नहीं देंगे-
रक्खेंगे सर पर आँखों पर.

—प्रताप कुमार बसु

[शहीद शचीन्द्रनाथ के एक साथी प्रताप कुमार बसु ने ऊपर दी हुई कविता बंगला में लिखी थी. उसका हिन्दुस्तानी अनुबाद भाई भगवान मिश्र ने किया है, शहीद के खून का हमारे माथे पर जो टीका लगा हुआ है. उसे हम कभी नहीं मिटने देंगे. यही प्रतिज्ञा हम सबको भी आज के दिन करनी चाहिये—सम्पादक]

श्री शचीन्द्र नाथ मित्र

[शचीन मित्र मर कर भी अमर हो गये हैं. ऐसी मौत पर दुख की जगह आनंद मनाना चाहिये.—बापू]

१५ अगस्त १६४७ को मिलने वाली हिन्दुस्तान की आज़ादी को महफ़ूज़ रखने के लिये भारतमाता के जिस पुत्र ने सबसे पहिले अपने को शहीद किया था, वह थे श्री शचीन्द्रनाथ मित्र. १ सितम्बर १६४७ से कलकत्ते की सड़कें जब हिन्दू-मुस्लिम बलवों से एक बार फिर भयानक हो उठीं और डर, बेएतमादी व हत्याओं की आग वहाँ धधक उठी. तब शचीन्द्रनाथ इस आग को बुझाने के लिये खुद ही इसमें कूद पड़े थे.

श्री शचीन्द्र की यह कहानी जितनी दुख भरी है उससे भी ज़्यादा वह हमारे देश को गौरव देने वाली है. भाई-भाई के मिलाप की जो फ़िज़ा १५ अगस्त को देखने में आई थी, वह एक पखवारा बीतते न बीतते फिर आपसी फूट और मारकाट में बदल चली थी. शान्ति और प्रेम के अवतार गान्धी जी को फूट परस्तों के एक गिरोह ने बेइज़्ज़त करने की कोशिश करके तमाम देश के माथे पर कलंक का टीका लगा देने की जहालत दिखाई थी. कलकते की जनता अपने बेबस भाइयों और पड़ोसियों की हत्या के पाप भरे काम में पूरी तरह डूब चली थी. बापू ने इस जनता को सही रास्ते पर लाने के लिये अनशन शुरू कर दिया था.

आपसी फूट और मारकाट से हाथ में ही मिली हुई आज़ादी को

आज के शहीद

श्री शचीन्द्र नाथ मित्र

बेकार बना देने या फिर से खो देने की भेद भरी साज़िश की गई थी और वह कामयाब सी भी हो चली थी. इस साज़िश को नाकामयाब बनाने और अपने भोलेपन व जोश की वजह से इस साज़िश में शरीक जनता इस पाप भरे काम से हटाने के लिये आज़ादी के सच्चे सिपाहियों पुकार हुई और तब हमारे देश के इस कठिन संग्राम में, जो विदेशी कूमत से चलने वाली लड़ाई से कहीं ज़्यादा भयानक था, सबसे पहिले गे आने वाले श्री शचीन्द्र ही थे.

श्री शचीन्द्र देश की पुकार को अनसुना न कर सके. करते भी कैसे ? जिसने बचपन से ही देश सेवा के काम में अपने तन-मन को खपाया हो, वह देश की दुर्गति के वक़्त हाथ पर हाथ धरे कैसे बैठा रह सकता था. आज़ादी की लड़ाई में अगले मोर्चे में रहने वाले शचीन्द्र आज़ादी की हिफ़ाजत के लिये लड़ी जानेवाली इस लड़ाई में भला कैसे पीठ दिखा सकते थे ? उनकी ज़िन्दगी के साथ वह पूरा इतिहास था, जिसमें इस बहादुर नौजवान ने अड़तीस बरस की छोटी सी उम्र में ही कभी विद्यार्थियों के आन्दोलन में नेता बनकर, कभी आज़ादी की लड़ाई में एक सिपाही की हैसियत से, कभी गान्धी जी के प्रेम सन्देश के प्रचारक के रूप में, कभी संगठन के मैदान में एक अच्छे संगठन करने वाले कार्यकर्ता की शक्ल में और हाल में ही समाजवाद की नई धारा में अगुआ बनकर पूरे बंगाल को जगमगाये रखने की अनगिनती कहानियाँ थीं. उनके इन तमाम शानदार कामों के पूरे ब्यौरे को शायद वह लोग तो जान भी न सकेंगे, जिनको श्री शचीन्द्र से निजी जान पहिचान रखने का सौभाग्य प्राप्त नहीं हो सका और मेरे लिये इन बेजान अक्षरों में उनकी ज़िन्दगी और उनके कामों व उनके ऊँचे ख़यालात की तस्वीर खींच देना भी एक मुश्किल काम है, फिर भी मैं इसके लिये कोशिश करूँगा, जिससे कि आगे की पीढ़ियों को देश के दुश्मनों से देश की हिफ़ाज़त करने का बल मिले और इस अमर शहीद के साथ काम करने वालों को और उनके पीछे चलने वालों को उनकी उस क़ीमती विरासत

का शान हो जाय, जो वह उनके हाथों में दे गये हैं और श्री शचीन्द्र के अज़ीज़ों और रिश्तेदारों के साथ तमाम देश अपने इस शहीद की सही क़ीमत जान सके.

ज़िला चौबीस परगना (बंगाल) के मजीलपुर-जयनगर गाँव में ता० ३१ दिसम्बर १६०६ शुक्रवार के दिन श्री शचीन्द्र का जनम हुआ था. श्री शचीन्द्र के पिता श्री नरेन्द्र नाथ मित्र अपने ज़माने के एक मशहूर अटर्नी थे, लेकिन श्री शचीन्द्र जब सिर्फ़ चार बरस के थे, तब उनके पिता चल बसे और शचीन्द्र के लालन पालन का तमाम बोझ उनकी पूजनीय माता जी पर आ पड़ा, जो एक योग्य महिला थीं.

श्री शचीन्द्र को शुरू की तालीम टाउन स्कूल में मिली. इस ज़माने में ही आपने स्टडी सर्किल खोले थे, लाइब्रेरी क़ायम की थी और हाथ के लिखे अख़बार भी निकाले थे. सन् १६२५ में 'प्रवेशिका' का इम्तहान पास करके आपने कलकत्ते के स्काटिश चर्च कालेज में अपना नाम लिखा लिया. इस ज़माने में आपने विद्यार्थियों के संगठन में काफ़ी काम किया. एक तरह से तो यह भी कहा जा सकता है कि बंगाल में विद्यार्थी संगठन की नीव डालने वालों में एक आप भी थे. इस सिलसिले में स्काटिश चर्च कालेज में आपने 'स्टूडेन्ट यूनियन' क़ायम की और उसके पहिले सदर आप ही चुने गये. १६२६ में जब साइमन कमीशन हमारे देश में आया था, तो उसके बायकाट में कलकत्ते के विद्यार्थियों ने जो भारी हिस्सा लिया था, उसके अगुआ आप ही थे. पुलिस के दमन के खिलाफ़ कलकत्ते के विद्यार्थियों ने जो भारी हड़ताल की थी, उसके नेता भी श्री शचीन्द्र ही थे, जिसके नतीजे में दूसरे चार सौ विद्यार्थियों के साथ आपको भी कालेज से निकाल दिया गया था. इस पर तमाम बंगाल के विद्यार्थी समाज ने भारी नाराज़गी ज़ाहिर की थी. इस तरह आप ज़िन्दगी के हर लमहे में इनक़लाब का बिगुल बजाते रहे थे.

उस ज़माने में स्काटिश कालेज के प्रिन्सपल मिस्टर क्यायरन थे, जो श्री शचीन्द्र को एक ज़हीन विद्यार्थी समझकर बड़ी मुहब्बत की नज़र

से देखते थे. उन्होंने श्री शचीन्द्र की माँ को एक खत लिखा जिसमें उन्होंने सलाह दी कि आप शचीन्द्र को माफ़ी माँगने के लिये समझायें, जिससे वह फिर कालेज में दाखिल हो सके. लेकिन शचीन्द्र की माँ ने जवाब दिया—

"मेरे बेटे ने कोई क़सूर तो किया नहीं है, फिर मैं उससे माफ़ी माँगने को क्यों कहूँ."

और ऐसी माँ की कोख से शचीन्द्र जैसा बहादुर लड़का हुआ, तो इसमें ताज्जुब ही क्या !

स्काटिश कालेज से निकाले जाने के बाद श्री शचीन्द्र रिपन कालेज में दाखिल हुए और वहाँ से सन् १६२६ में आपने इज़्ज़त के साथ बी० ए० पास किया.

इसी ज़माने में आप एस० एन० मुखर्जी एण्ड कम्पनी में ट्रेनिंग क्लास में दाखिल हो गये. इस कम्पनी के ट्रेनिंग क्लास में दाखिल होने वाले विद्यार्थियों में सबसे पहिले दल में आप भी एक थे. इसके साथ ही आपने आल बंगाल स्टूडेन्ट्स यूनियन की नींव डाली और उसकी वार्किंग कमेटी के एक मेम्बर रहे. इसके अगले साल आप यूनियन के प्रेसीडेन्ट चुने गये. इस तरह उस छोटी से उम्र में ही बंगाल भर के विद्यार्थियों ने अपना सबसे बड़ा नेता आपको चुना था.

१६३० में जब गान्धी जी ने क़ानून तोड़ने की लड़ाई छेड़ी, तब आपकी स्टूडेन्ट्स यूनियन ने ऐसे लिटरेचर को पढ़ कर क़ानून तोड़ने का फ़ैसला किया, जो सरकार ने ज़ब्त कर लिया था. श्री० जे० एम० सेन गुप्त ने इस काम के लिये खास तौर पर विद्यार्थियों में प्रचार किया था. इस फ़ैसले के मुताबिक़, कालेज स्कायर में श्री शचीन्द्र की सदारत में एक सभा हुई, जिसमें बंगाल के सबसे बड़े उपन्यास लिखनेवाले स्वर्गीय शरत् बाबू का मशहूर उपन्यास 'पाथेर दावो' जिसे बंगाल सरकार ने ज़ब्त कर रक्खा था, सरे आम पढ़ा गया. इसी जुर्म में आप गिरफ़्तार कर लिये गये और आपको क़ैद की सज़ा दी गई.

जब आप जेल में ही थे, तब आपकी माता जी का इन्तक़ाल हो गया. श्री शचीन्द्र के ऊपर यह कोई मामूली चोट नहीं थी, क्यों कि बचपन से ही श्री शचीन्द्र ने सिर्फ़ माँ का दुलार ही पाया था. लेकिन श्री शचीन्द्र इस चोट को हँसते हँसते झेल गये. क़रीब छै महीने के बाद ज्यादा बीमार हो जाने की वजह से आप जेल से छोड़े गये.

इसके बाद १९३१ की कराची कांग्रेस में आप शरीक हुए और वहीं से आपने कुल हिन्दुस्तान में विद्यार्थियों के संगठन का काम शुरू किया. इसके साथ ही आपने यूथ लीग के संगठन में भी हिस्सा लेना शुरू किया और बंगाल की यूथ लीग का बोझ अपने सर पर उठा लिया.

इस ज़माने में आपने बंगाल के बहुत से हिस्सों का दौरा किया और इससे संगठन के काम में बहुत मदद मिली, और इसके साथ ही जनता ने पहिली बार यह महसूस किया कि श्री शचीन्द्र कितना अच्छा बोलते हैं और कितनी मेहनत से अपना काम पूरा करते हैं. 'इंडिया हुमारो' नाम के एक अख़बार में सहायक सम्पादक भी आप इसी ज़माने में रहे.

१९३२ में जब फिर क़ानून तोड़ने का आन्दोलन चला, तो आप और आपके बड़े भाई, दोनों ही क़ैद कर लिये गये. आपकी 'समिति' के दफ़्तर पर भी सरकार ने ताला डाल दिया और बहुत सा सामान पुलीस उठाकर भी ले गई. क़रीब एक साल बाद आप रिहा किये गये और तब आपने फ़ौरन ही 'बंगल सेवा दल' का संगठन शुरू कर दिया. इसी ज़माने में आपकी वह ट्रेनिंग पूरी हो गई, जो आप मुखर्जी एन्ड कम्पनी में ले रहे थे. इसकी ऊँची तालीम पाने के लिये आप १९३३ में इंगलैंड चले गये. इंगलैंड पहुँचकर आपने हिन्दुस्तानी विद्यार्थियों के संगठन का काम किया. इस ज़माने में आल इंडिया यूथ लीग ने लन्दन के लिये आपको अपना नुमायन्दा चुन दिया था. इंगलैंड रहते वक़्त आप अक्सर बंगाल के 'भावी काल' और अंग्रेज़ी के 'वायस आफ़ दी यूथ' अख़बार में लेख लिखते रहते थे.

कुछ दिन बाद आप लंदन के 'लंदन स्कूल आफ़ इकानिमिक्स' में

दाखिल हो गये, लेकिन इस स्कूल की पढ़ाई ख़त्म करने से पहिले ही आप बीमार पड़ गये और कई महीने तक स्विटज़र लैंड के एक अस्पताल में पड़े रहे.

१६३४ में आप हिन्दुस्तान लौटे और यहाँ आकर आपने बीमा का काम शुरू किया. कुछ दिनों तक आप बीमा के बारे में निकलने वाले एक अंग्रेज़ी अख़बार के सम्पादक रहे. इसके बाद आप एक विलायती बीमा कम्पनी में एजेन्टों के इन्सपेक्टर के पद पर रहे. अपनी इस नौकरी के साथ ही आप 'फ़ील्ड' नाम का अंग्रेज़ी अख़बार भी निकाला करते थे. अमिताभ मित्र के नाम से उस अख़बार का सम्पादन भी आप ही करते थे. कम्पनी ने जब इस अख़बार पर एतराज़ किया, तब आपने अख़बार बन्द कर दिया. इसके बाद आपने इस कम्पनी की नौकरी छोड़ दी और एक देशी बीमा कम्पनी में पहुँच गये. इस बार 'फ़ील्ड' अख़बार को 'फ़ील्ड मैन' के नाम से आपने निकाला और सम्पादक की जगह अपना असल नाम ही दिया.

१६३८ में कुछ दोस्तों की मदद से आपने 'सिटी आफ़ कलकत्ता' नाम से एक बीमा कम्पनी खोली और बीमा एजेन्टों की तालीम के लिये एक स्कूल भी क़ायम किया.

धीरे धीरे श्री शचीन्द्र बीमा की दुनिया के नेता हो गये और हिन्दुस्तान की सभी बीमा कम्पनियों ने आपको अपना नुमायन्दा चुना. इसी हैसियत से 'बीमा क़ानून' की मुख़ालफ़त में आप एक बार लार्ड लिनलिथगो से मिले. लार्ड लिनलिथगो पर आपकी बहस का इतना असर पड़ा कि बीमा कम्पनियों की माँगें मंज़ूर कर ली गईं.

यूरोप से लौटने के बाद इस ज़माने तक आपने हिन्दुस्तान की राजनीति से एक दम हाथ खींच लिया था और रहन सहन भी आपका बिलकुल ही साहबी हो गया था. लेकिन सन् १६३६ में आप जैसे अपनी इस ख़ामोशी से ख़ुद ही घबरा उठे और भारतमाता की सेवाओं के इतने दिनों के क़र्ज़ को मय सूद के चुकाने के लिये उनके प्रान तड़फड़ाने

लगे. इस बार गान्धीजी के उसूलों की रोशनी ने उनको अपनी ओर खींचा और आप गान्धी जी की लिखी हुई किताबों का गहरा मुताला करने लगे. एक बार कुछ शंकाओं को आपने गन्धीजी के पास लिख भेजा. जवाब में गान्धीजी ने लिखा—

"मेरी किताबों को सावधानी से पढ़ो. फिर भी कोई शंका रहे, तो दो महीने बाद मुझे लिखना."

१६४० में जब ज़ाती सत्याग्रह शुरू हुआ, तब पिछली मिनिस्ट्री के ज़माने में जो फ़सली लोग कांग्रेस में भर गये थे, वह कांग्रेस से हटने लगे. श्री शचीन्द्र उस ज़माने में कांग्रेस से अलग रहे थे, लेकिन इस वक़्त वह उससे अलग कैसे रह सकते थे. इस ज़माने में दिन रात उनके दिल में एक आग सी धधका करती थी और वह अक्सर अपने मिलने जुलने वालों से कहा करते थे—

"हमने देश के लिये क्या किया है? देश में फैले हुए इस अंधेरे को मिटाकर हम इसे रोशन क्यों नहीं कर पा रहे हैं? देश में गुमराह नौजवानों को हम क्यों नहीं समझा पा रहे हैं? कांग्रेस के पीछे तमाम देश को खींच लाने में हमें कामयाबी क्यों नहीं मिल रही है? हममें ऐसी क्या कमी है?"

असल में वह इन सवालों का जवाब ख़ुद अपने दिल से चाहते थे.

इसके बाद शचीन्द्र नाथ १६४२ के आन्दोलन में कूद पड़े. उन्होंने इस तूफ़ान के वक़्त विद्यार्थियों की बागडोर अपने हाथ में ली. वह कालेजों और होस्टलों में घूम घूम कर विद्यार्थी समाज को भारत माता की पुकार सुनाने लगे. क़ुरबानी की दावत लेकर उन्होंने घर घर के दरवाज़े खटखटाये. कलकत्ते के विद्यार्थियों ने इस तूफ़ान में जो हिस्सा लिया था, वह सब शचीन्द्र की कोशिशों का ही नतीजा था. आख़िर १८ अगस्त को वह पकड़ लिये गये और दमदम जेल में पहुँचा दिये गये.

दमदम जेल में उनकी ज़िन्दगी में एक गहरा परिवर्तन हुआ और उनका मन धर्म शास्त्रों में ज़्यादा रमने लगा. वह दिन रात गीता, सप्तशती, योग वशिष्ट, उपनिषद्, पुराण, क़ुरान वग़ैरह रूहानी किताबों में ही डूबे रहने लगे. अपनी रोज़ाना की ज़िन्दगी को भी वह इसी साँचे में ढालने की कोशिश करने लगे. इससे उनका दिल एक स्वर्गीय रोशनी से जगमगा उठा और इस जपतप से उनके मन में शक्ति और ख़ुद एतमादी के अनगिनती झरने फूट उठे, जो उनके मन में नये नये अंकुर पैदा करने लगे.

इसी जेल की ज़िन्दगी में उन्होंने डाक्टर राधाकृष्णन की 'कल्कि' और मिस्टर रेमार्क की 'ज़्लट-साम' नाम की किताबों का बंगला में तर्जुमा किया.

यह सब करते हुए भी आप अपने जेल के साथियों की बड़ी भारी ख़िदमत किया करते थे. नौजवान साथियों को उनकी ज़रूरत की चीज़ें दिलाना, उनके पढ़ने के लिये अच्छी किताबें मँगवाना, उनके इम्तहान दिलाने का इन्तज़ाम करना, उनके लिये व्याख्यान माला का सिलसिला चलाना वग़ैरह न जाने कितनी ज़िम्मेदारियाँ श्री शचीन्द्र ने अपने सर ले रक्खी थीं. इसीलिये साथी क़ैदी आपको 'दमदम यूनीवर्सिटी' का वाइस चान्सलर कहा करते थे.

१९४४ में आप जेल से छोड़े गये, लेकिन साथ ही यह बन्दिश लगा दी गई कि आप कलकत्ता से बाहर नहीं जा सकते. जेल में ही श्री शचीन्द्र को यह पक्का यक़ीन हो गया था कि अगर देशवासियों में स्वराज्य की सच्ची ख़्वाहिश पैदा नहीं की गई और काँग्रेस के कार्यकर्ताओं को गान्धी जी के उसूल अच्छी तरह नहीं समझाये गये, तो इस देश का उद्धार होना मुश्किल ही है. फ़िरक़ा परस्ती के उभार के वक़्त जिस तरह बहुत से काँग्रेसी इस दलदल में ख़ुद जा फँसे और फूट फैलाने वाले फ़िरक़ा वाराना संगठनों से हमदर्दी रखने लगे थे, उससे यह साबित होता है कि

उस दूरन्देश सच्चे देशभक्त ने असलियत को कितनी सच्चाई के साथ महसूस कर लिया था.

इसी ज़माने में उनके दिल में यह भी ख़याल पैदा हुआ कि उनको सिर्फ़ सियासी कामों में ही नहीं लगा रहना चाहिये. वह मुख़्तलिफ़ कामों में हाथ बँटाने लगे. इस सिलसिले में उन्होंने समाज की जो क़ीमती सेवाएँ कीं, उनकी वजह से दूसरे दूसरे हलक़े के लोग उनकी तरफ़ खिंचने और उनके असर में आने लगे. इस काम के लिये श्री शचीन्द्र को सिर्फ़ तीन साल का वक़्त मिल सका. लेकिन इस छोटे से ज़माने में ही उन्होंने जनता का हित करने वालों कितनी ही नई संस्थायें खोल दीं और कितने ही नये काम शुरू कर दिये. सच बात तो यह है कि इन तीन बरसों में ही शचीन्द्र पूरी तरह खिले और उनके दिल और दिमाग़ की ताक़त अपने बेहतर से बेहतर रूप में इसी ज़माने में जनता के सामने आई.

१९४४ में शचीन्द्र 'बंगीय छात्र संसद्', जो बंगाल के विद्यार्थियों का सबसे बड़ा संगठन है, के सभापति चुने गये. एक लम्बे अरसे के बाद विद्यार्थियों को अपना प्यारा पुराना नेता फिर मिल गया. उनका सभापति बनना था कि 'संसद्' में नई जान पड़ गई. अपने मीठे स्वभाव के कारन शचीन्द्र बाबू विद्यार्थियों और नौजवानों के बीच बड़ी इज़्ज़त और प्यार की नज़र से देखे जाते थे. कभी शचीन्द्र बाबू अपनी भावुकता के उभार में ऐसी बातें कह जाते थे कि वह सुनने वालों के दिल पर अमिट अक्षरों में लिख जाती थीं. एक बार उन्होंने अपने साथियों से रुँधे हुए गले से कहा था—

"भाइयो ! माता का रिन चुकाओ. जिस माँ के प्यार दुलार में पल कर तुम इंसान बने हो, उसकी हालत पर तो ग़ौर करो. सभी देशों में वहाँ के नौजवान ही देश की भलाई के कामों में आगे बढ़ कर हिस्सा ले रहे हैं. तुम भारत की जवानी को कलंक न लगा देना !"

१९४३ में जो भयानक दमन हुआ, उसके असर से देश बेजान हो

गया था. जनता उदास और डरी हुई थी. ऐसी हालत में शचीन्द्र ने जेल से छूटने वाले कई साथियों को लेकर कलकत्ता कांग्रेस वर्कर्स यूनियन बनाई, इसके कुछ दिन बाद गांवों के लिये कांग्रेस कार्यकर्ता तय्यार करने की ग़रज़ से उन्होंने 'कांग्रेस सेवा संघ' का संगठन किया. इसका नतीजा यह हुआ कि इधर उधर बिखरे हुए परेशान कांग्रेस कायकर्ताओं को एक रोशनी मिली और वह फिर काम में जुट गये. घोर अन्धकार में भी श्री शचीन्द्र इसी तरह रोशनी की कोई किरन पैदा कर देते थे.

कांग्रेस के प्रचार काम के सिलसिले में शचीन्द्र ने महसूस किया कि हमको साहित्य लिखने वाले, चित्रकार, मूर्ति बनाने वाले, गायक, नर्तक और अभिनेता (ऐक्टर) वग़ैरह सभी तरह के कलाकारों को कांग्रेस के हल्के में लाना चाहिये. उनका कहना था कि कांग्रेस की रहनुमाई में आज़ादी की जो वेदी तय्यार हो रही है उससे दूर खिसक कर कोई नहीं रह सकता. आज़ादी की लड़ाई की झलक हमको हिन्दुस्तान की हर एक चीज़ से मिलनी चाहिये, क्या मूर्तियाँ, क्या लिटरेचर, क्या हमारे ड्रामे, सिनेमा और क्या हमारे शादी ब्याह इन सबसे इतना तो ज़ाहिर होता रहना ही चाहिये कि हिन्दुस्तान इस वक़्त आज़ादी की लड़ाई में लगा हुआ है और हमारा सबसे बड़ा फ़र्ज़ उसमें मदद देना, उसमें हिस्सा लेना है. इस तरह शचीन्द्र के हृदय की एक एक धड़कन आठों पहर देश की आज़ादी के सुर ही बजाती थी.

एक दिन उन्होंने अपने यह खयालात मास्टर अनाथ गोपाल सेन के सामने रक्खे. उनकी सलाह से और कुछ दूसरे साहित्यकारों के सहयोग से दिसम्बर १९४४ में 'कांग्रेस साहित्य संघ' क़ायम करने में शचीन्द्र को सफलता मिली. इस संघ की पुकार पर देश के अनेकों लेखक और कवि भारतमाता के आँगन में इकट्ठे हो सके. श्री अतुल चन्द्र गुप्त, सजनीकान्त दास, सुबोध घोष, देश-विदेशों में मशहूर चित्रकार नन्द लाल बोस, विदेशी चित्रकार मूर हाउस, सुनीतिपाल, प्रो० इन्द्र दूगड़, सुकृति सेन और मशहूर नाचने वाले प्रह्लाद दास व और न जाने कितने

छोटे बड़े कलाकार इस संघ के झंडे के नीचे आकर आज़ादी की लड़ाई में तन-मन से योग देने लगे.

शचीन्द्र नाथ की दिन रात मेहनत ने इन देश सेवी कलाकरों के इस मिलन और संगठन को एक भारी ताक़त बना दिया. १९४६ के फ़रवरी के महीने में काँग्रेस साहित्य संघ की कोशिशों से राष्ट्रीय चित्रों की पहिली नुमायश हुई. कांग्रेस के सालाना जलसे पर नन्दलाल बोस के बनाए हुए सुन्दर चित्रों को कलकत्ते की जनता शायद पहिली बार देख सकी. इन चित्रों में यह दरसाया गया था कि भारत के सात लाख गाँवों की नई ज़िन्दगी और तरक़्क़ी ही स्वराज का असली मक़सद और उसकी सही तस्वीर है. इसके बाद तस्वीरों की और भी नुमायशें की गईं. गान्धी जी के उसूल, हिन्दुस्तान के सभी फ़िरक़ों का भाई चारा, देश के शहीदों का इतिहास और इसी तरह की दूसरी चीज़ों और मसलों पर इन नुमायशों की तस्वीरों में बड़ी ख़ूबसूरती और बड़े पुर असर तरीक़े से रोशनी डाली गई थी. १९४६ के जनवरी के महीने में श्री शचीन्द्र ने राष्ट्रीय तस्वीरों की एक बहुत बड़ी नुमायश की, जिसमें तस्वीरों के सहारे हिन्दुस्तान की आज़ादी की लड़ाई का पूरा इतिहास दिखाया गया था.

चित्रकारी की ही तरह ड्रामों और फ़िल्मों व गीतों के ज़रिये देशभक्ती का प्रचार करने की तरफ़ भी शचीन्द्र ने अपना ध्यान लगाया. इससे बंगाल में बहुत से ड्रामाटिक क्लब खुले. कितने ही पुराने राष्ट्रीय गीत फिर जनता की ज़बान पर ताज़ा हो उठे और बंगाल के सुबह शाम उनकी मीठी लय से गूँजने लगे. ऐसे बहुत से गीतों की राग रागनियाँ भी उन्होंने तय्यार कराईं और इन गीतों के संग्रह भी शचीन्द्र की कोशिशों से किताबी शक्ल में निकले, जिनको जनता ने बेहद पसन्द किया. इन कामों में शचीन्द्र को इतनी ज़्यादा लगन थी कि वह क़रीब क़रीब हर एक इतवार को किसी न किसी गाँव में गीतों या चर्खों का दंगल रख देते थे. यही दंगल एक अच्छी सभा का काम भी दे जाता था, जिसमें आये हुए

लोग श्री शचीन्द्र के देशभक्ती में डूबे हुए भाषणों को सुन कर मुग्ध हो जाते थे और अक्सर लोग वहीं सभा में उनके सामने यह वादा करते थे कि आगे से वह भी देश के काम में कुछ न कुछ वक़्त ज़रूर देंगे. इस तरह शचीन्द्र ने सैकड़ों नये लेकिन सच्चे कार्यकर्ता गाँवों से निकाले थे.

इसी बीच और भी कितनी ही नई नई संस्थायें शचीन्द्र ने क़ायम कीं और कितनी ही संस्थाओं से उन्होंने अपना सम्बन्ध क़ायम कर लिया. बालीगंज राष्ट्रीय सेवा संघ, बारकोल डाँगा, गोबर-डाँगा, उत्तर पाड़ा वग़ैरह में जितने भी नौजवानों के समाज थे, उन सब में उनकी रैठ पैठ थी और वहाँ के लोग इनको अपना भला चाहने वाला एक सच्चा देशभक्त समझते थे. इधर उधर बिखरे हुए कार्यकर्ताओं की तालीम के लिये श्री शचीन्द्र ने मास्टर अनाथ गोपाल सेन की देख रेख में एक स्कूल भी चलाया और इसका ताल्लुक़ बहुत से संगठनों के ज़रिये चलाई जाने वाली गाँवों की रात पाठशालाओं से क़ायम किया.

१६ अगस्त १९४६ को कलकत्ते में जो भयानक बलवा शुरू हो गया था, ऐसा मालूम होता है कि श्री शचीन्द्र को उसका आभास पहिले ही हो गया था. इसीलिये इस बलवे से कुछ ही दिन पहिले से उन्होंने हिन्दू मुस्लिम एकता के प्रचार में ही अपनी तमाम ताक़त लगानी शुरू कर दी थी. इसके लिये वह दोनों फ़िरक़ों की मिली जुली सभायें करते थे और दोनों फ़िरक़ों के नेताओं के दस्तखत कराके एकता की अपीलें निकलवाते थे. लेकिन बलवा न रुक सका, क्योंकि इसकी जड़ें बहुत ज्यादा गहरी पड़ चुकी थीं और फूट व जोश से भरी हुई ओछी बातें जनता के दिमाग़ पर जल्दी असर कर जाती हैं. लेकिन शचीन्द्र ने फिर भी हिम्मत नहीं हारी.

शचीन्द्र ने महसूस किया कि कलकत्ते में होने वाले अगस्त के बलवे का दूसरा दौर पूरबी बंगाल में चलाया जावेगा, इस लिये कुछ दोस्तों को लेकर वह मैमनसिंह, चटगाँव, कोमिल्ला, नोआखाली वग़ैरह गये. '१६ अगस्त से पहिले और उसके बाद' नाम से उन्होंने एक किताब छपवाई थी, जिसके साथ काँग्रेस साहित्य संघ की किताबें और

एकता का प्रचार करने वाली तस्वीरों के साथ वह इन गाँवों में दरवाज़े दरवाज़े पहुँच कर एकता का अलख जगाते फिरे. घर में आराम कुर्सी पर लेट कर नेताओं को गालियाँ देने के शौक़ीन भाई शायद कहेंगे, "कैसा पागलपन था? इससे बलवा रोके लिया क्या?" वह नहीं जानते कि यह एक ऐसी ही दलील है, जैसे कोई यह कहे कि धरम की किताबें और रिषी मुनी व पंडित लोग फ़ज़ूल ही नेक चलनी का और सदाचार से रहने का उपदेश देते हैं, इससे दुनिया का पाप रुक गया क्या? यह साफ़ है कि ऐसे लोगों की इस तरह की दलीलों का जवाब कुछ भी नहीं हो सकता.

१९४६ के नवम्बर दिसम्बर में जब नोआखाली में जानबूझ कर आग भड़काई गई, तब शचीन्द्र त्रिपुरा और नोआखाली की सीमा पर बसे हुए हेमचर नाम के एक स्थान में अछूत भाइयों की सेवा में लगे हुए थे. इस इलाक़े के चारों तरफ़ भयानक बलवों की आग जल रही थी और किसी भी हिन्दू का वहाँ रहना ख़तरे से ख़ाली नहीं था, लेकिन श्री शचीन्द्र ने अपनी जगह से हटने से इन्कार कर दिया. वह उस ज़माने में भी मुसलमानों के गाँवों में बेधड़क चले जाते थे और उनको अपने हिन्दू पड़ोसियों की हिफ़ाज़त के लिये समझाते बुझाते थे. उस इलाक़े के तमाम मुसलमान उनकी बड़ी इज़्ज़त करते थे और इसी लिये श्री शचीन्द्र को किसी हद तक अपने काम में कामयाबी भी मिली. शचीन्द्र के काम में सबसे बड़ा रोड़ा अटकाने वाले वह हिन्दू लीडर थे, जो हिन्दुस्तान के मुख़तलिफ़ हिस्सों में नोआखाली का बदला वहाँ के मुसलमानों से लेने के लिये उकसाते फिरते थे, लेकिन उस इलाक़े में घिरी हुई हिन्दू जनता की खोज खबर लेने के लिये वह उधर की ओर झाँकते भी नहीं थे. ऐसे लीडरों की तक़रीरें उस इलाक़े के गुन्डे मुसलमान लीडर ख़ूब नमक मिर्च लगाकर वहाँ के मुसलमानों को सुनाते थे, जिससे शचीन्द्र जो कुछ उनको समझाते थे, उसका असर बहुत कम हो जाता था. इसके बाद शचीन्द्र फिर नये सिरे से उनको

समझाते थे और फूट परस्त मुसलमान लीडर फिर उनकी दलीलों के खिलाफ़ वहाँ की मुसलमान जनता को भड़काते थे. बस इसी तरह यह कशमकश काफ़ी दिन तक चलती रही, जिसके बीच जमे रहना शचीन्द्र जैसे साहसी आदमी का ही काम था. लेकिन शचीन्द्र ने मौत से डरना तो सीखा ही नहीं था.

इसी जमाने में शचीन्द्र की जान पहिचान बापू से हुई और बापू ने उनको हिम्मत देते हुए कहा था—

"तुमको काम करते रहना होगा, हार मान लेने से कैसे बनेगा."

१९४७ के मार्च में शचीन्द्र कलकत्ते लौटे, तो इस देशभक्त का दिल आपस की ख़ूं रेज़ी से दाग़ दाग़ था. जो बातें कभी ख़याल में भी नहीं आ सकती थीं, वह उनको आँखों से देखनी पड़ी थीं. कोई हलके दिमाग़ का आदमी होता, तो इस हालत में हिन्दू फ़िरक़ा परस्ती के रंग में रंग जाता. इससे जनता से इज़्ज़त भी मिलती, पैसे भी मिलते और हज़ारों आदमी उनको कन्धों पर घुमाये फिरते. लेकिन, जिस आदमी ने हिन्दू धरम के शास्त्रों का इतनी गहराई से मनन किया हो और उनके ही मुताबिक़ अपने को ढालने की कोशिश की हो, वह ऐसी ग़लती कैसे कर सकता था? वह जानते थे कि जो कुछ हुआ है, उसमें दोष न हिन्दू का है, न मुसलमान का है, बल्कि फ़िरक़ा परस्ती का है. बस वह फ़िरक़ा परस्ती के ख़िलाफ़ ऐसे नौजवानों का संगठन करने में जुट गये, जो कठिन से कठिन समय में भी अपनी जगह पर अडिग रह सकें. उस वक़्त ऐसा संगठन कर लेना मामूली बात नहीं थी, क्योंकि लोग एक दूसरे के ख़िलाफ़ ग़ुस्से में भरे हुए थे. एकता का नाम सुनते ही जनता गालियाँ देने लगती थी और जो लोग मारकाट व इसी तरह की दूसरी चीज़ों का "अपनी हिफ़ाज़त" के नाम पर प्रचार करते फिरते थे, समाज की नेतागिरी उन लोगों के हाथों में थी. लेकिन शचीन्द्र हिम्मत हारने वाले आदमी नहीं थे. सभाओं में और आपसी बातचीत में वह अपने

उसूल का निडर होकर प्रचार करते थे. उसी ज़माने में उन्होंने बं
टीचर्स कान्फ्रेन्स में लेकचर देते हुए कहा था—

"आप लोग आगे आइये. उन लोगों की मदद कीजिये, जो
को सचमुच ऊँचा उठाना चाहते हैं, और नौजवानों व बालकों
दिमाग़ में फ़िरक़ा परस्ती का जो ज़हर भर दिया गया है, उसे धोने
साफ़ करने में जुट जाइये."

शचीन्द्र की यह अपील बेकार नहीं गई और डाक्टर अमिय चक्रव
व श्रीमती सुजाताराय जैसे विद्वान लोगों ने उनको सहायता देना मं
किया और उनको पूरी तरह मदद दी.

शचीन्द्र ने हेमचर में जो ख़ून ख़राबी देखी थी, वह दिन रा
उनको बेचैन किये रहती थी. वह महसूस करते थे कि यह नफ़रत औ
दुश्मनी व छुरेबाज़ी हमको कायर और बेशर्म बनाए दे रही है. बदल
लेने के नाम पर हम जानवर बने जा रहे हैं और इससे पूरे देश क
विनाश होता चला जायगा. अपनी इन भावनाओं का प्रचार करने के
लिये श्री शचीन्द्र ने कई नाटक लिखने वालों से प्रार्थना की कि वह इस
मसले पर एक पुरअसर नाटक लिख दें, लेकिन यह लोग टालमटूल करते
रहे. आख़िर शचीन्द्र ने ख़ुद ही एक नाटक लिख डाला. उन्होंने कहा—
"यह ठीक है कि अगर कुछ देर इन्तज़ार किया जा सकता, तो उन कलाकारों
का लिखा हुआ नाटक कहीं ज़्यादा पुरअसर और जानदार होता. लेकिन
ज़रूरत तो आज है. इन्तज़ार का वक़्त अब हमारे पास कहाँ है? जो
काम कोई न करे, वह काम करने के लिये मैं तय्यार हूँ!" इस तरह
शचीन्द्र को पल भर को भी चैन नहीं था. जब उनके साथी उनके तेज़
क़दमों का साथ नहीं दे पाते थे, तब भी वह आगे बढ़ते ही जाते थे.
इन्सानियत की पुकार पर वह किसी का भी इन्तज़ार करने के लिये खड़े
नहीं रह सकते थे.

जब १५ अगस्त १९४७ की तारीख़ नज़दीक आने लगी, तो शचीन्द्र
सोचने लगे कि हमारी आज़ादी का रूप क्या होगा?

हमारी जनता से क्या माँगेगी ? वह अपनी इन भावनाओं को जनता में फैलाने के लिये पोस्टर तय्यार कराने लगे. इसी तरह के उन्होंने गीत भी लिखवाये. एक गीत की कुछ कड़ियाँ हैं—

"धिड़िल बन्धन, टुटिल श्रंखल,
नूतन प्रभाते के तोरा जाबिबल.
एखन बहुप्राण चाइजे बलिदान,
राखिते मार मान स्वागत बीर दल."

यानी—"इस नये प्रभात में कौन चलते हो, बोलो ? माँ की इज्ज़त को बचाने के लिये अनगिनत क़ुरबानियों की ज़रूरत है. वीरो ! तुम्हारा स्वागत है."

जून १९४७ में शचीन्द्र ने 'संगठन' नाम से एक अख़बार निकाला, जिसमें अपना पहिला सम्पादकीय लेख लिखते हुए उन्होंने लिखा था— "आज एक नये क़िस्म की पुकार हुई है. जुग जुग की साधना से ख़ुश होकर राष्ट्र देवता आशीर्वाद दे रहा है. उस आशीर्वाद को लेने की हिम्मत किसमें है ? इस आशीर्वाद लेने और उसका पालन करने की हिम्मत देश में कौन करेगा ? संगठन करने वालों के नाम से आज तक जो अपना परिचय देते रहे हैं, आज उनके इम्तहान का वक़्त है. आज उनकी आत्मा, धीरज और अपने उसूलों के लिये वफ़ादारी का इम्तहान होने वाला है !"

उन्होंने इस तरह का एक संगठन बनाया. १९-२० जुलाई को कार्यकर्ताओं की एक सभा हुई और एक संगठन बनाने की स्कीम बनी. इसके कनवीनर शचीन्द्र बनाए गये.

३१ अगस्त १९४७ को कलकत्ते के देश बन्धु पार्क में होने वाली एक सभा में लेक्चर देकर अपने दोस्तों के साथ शचीन्द्र लौट रहे थे. यकायक उन्होंने कहा—"देखो, अहिंसा पर मेरा पूरा यक़ीन है. लेक्चर

भी देता हूँ, लेकिन जब तक इस पर अमल करते हुए जनता नहीं देखेगी, तब तक सिर्फ़ लेक्चरों पर वह यक़ीन नहीं करेगी. हमें और ऊँचा उठना होगा, और भी एक इम्तहान देना होगा."

इतवार को उन्होंने यह कामना की और सोमवार को वह पूरी भी हो गई. १ सितम्बर सन् १६४७ को कलकत्ते में अकस्मात बलवा हो गया. 'छात्र संसद्' के किसी मेम्बर ने 'फ़ील्डमैन' के आफ़िस में इसकी इत्तिला शचीन्द्र नाथ को दी. सुनते ही शचीन्द्र अपने तीन साथियों को लेकर बाहर निकल पड़े. रास्ते में कुछ मुसलमान भी, जो उनके मिशन से हमदर्दी रखते थे, उनके साथ हो लिये. अब यह दल नारे लगाता हुआ आगे बढ़ा. 'ना.खुदा मसजिद' के पास बलवा होने की ख़बर सुनकर शचीन्द्र उधर ही चले. कैनिंगस्ट्रीट और चितपुर रोड पर मुसलमानों के एक दल ने उनको आगे बढ़ने से जबरदस्ती रोकना चाहा और शचीन्द्र व उनके दो साथियों को छुरों से घायल कर दिया. शचीन्द्र के साथी मुसलमानों ने शचीद्र की हिफ़ाज़त के लिये हद दरजे की कोशिश की, लेकिन वह बेकार ही गई. शचीन्द्र नाथ के पेट में छुरे का घाव था. आखिर उनके साथी मुसलमान किसी तरह खींच खाँच कर उनको गुण्डों की भीड़ से बाहर निकाल सके और बड़ी हिम्मत के साथ उनको एक लारी में मेडिकल कालेज अस्पताल में ले जा सके. शचीन्द्र को जिस तरह वह यहाँ तक लाये, यह सिर्फ़ उनकी ही हिम्मत थी.

अस्पताल में जिन्दगी की आखिरी घड़ियों में शचीन्द्र ने आख़ीरी मिलन के लिये आने वाले दोस्तों से कहा था—

आज मुझे बहुत ख़ुशी है. इतनी ख़ुशी मुझे कभी नहीं मिली.

"जिस बड़े काम में हम घायल हुए हैं, उसको दाग़ न लगने देना दोस्तो! बंगाल के नौजवानों और विद्यार्थियों से मेरी यह प्रार्थना कह देना कि शचीन्द्र तुम्हारे हाथों में माँ की इज्ज़त बचाने का काम छोड़ कर गया है."

३ सितम्बर बुधवार को सुबह के वक़्त इस बहादुर देश भक्त और माँ के इस अनोखे लाल ने आख़िरी हिचकी ली. बापू उस वक़्त अनशन किये हुए थे.

फिर भी उन्होंने शचीन्द्र की मौत की ख़बर पाते ही उनकी पत्नी को हिन्दुस्तानी में एक ख़त लिखा, जिसमें बापू ने लिखा था—

"सचिन मित्र मर कर अमर हो गये हैं. ऐसी मौत पर दुख मनाने के बजाय आनन्द मनाना चाहिये. आप उनके क़दमों पर चल कर उनके प्रति रहने वाले अपने प्यार को ज़ाहिर कर सकती हैं."

कुछ दिनों बाद बापू भी उसी रास्ते चल दिये जिस रास्ते उनका यह प्यारा शिष्य गया था.

आज भी मैं कलकत्ते के ऐसे बहुत से 'शूरवीरों' को जानता हूँ, जिन्होंने बलवों के दिनों में दूसरे फ़िरक़े के किसी रास्ता चलते हुए बेबस मुसाफिर या घिरे हुए पड़ौसी पर हाथ साफ़ किया था. ऐसे लोग बड़ी बेशर्मी से अपने साथियों में बैठकर आज भी अपनी इस बहादुरी का बखान करते हैं, लेकिन जिनके आखें हैं और दिमाग़ है, वह समझते हैं कि असली बहादुरी उन बेबसों की हत्या में थी या शचीन्द्र की तरह लोगों को बचाने के लिये जान बूझ कर आग में कूद पड़ने में. ऐसे लोग भी हैं, जो शचीन्द्र को एकता के काम में लगा देखकर उसे 'ग़द्दार' कहते थे और उसे हिन्दू धर्म का दुश्मन बताते थे. लेकिन मैं जानता हूँ कि शचीन्द्र ने अपने प्रान देकर भी हिन्दू धर्म को बचा लिया. 'बदला लेने के नाम पर' बेक़सूर लोगों की हत्या करने वाले कायर जब अपने को 'हिन्दू' कहते हैं तो मुझे अपने 'हिन्दू' होने पर शर्म आने लगती है, लेकिन जब तक शचीन्द्र जैसे नौजवान हिन्दू जाति में हैं तब तक हिन्दू धर्म पर मेरी श्रद्धा अचल है, अडिग है.

कभी कभी रात के सन्नाटों में मुझे शचीन्द्र का वह आख़िरी सन्देश सुनाई देता है, जो उसने जिन्दगी की आख़िरी घड़ियों में कलकत्ते के

विद्यार्थियों और नौजवानों को मुखातिब करके तमाम देश को या हर एक देश भक्त को दिया था और मैं सोचता हूँ कि शचीन्द्र की आत्मा आज भी हमारे जवाब के इन्तज़ार में है.

[यह लेख श्री शचीन्द्र नाथ मित्र के एक नज़दीकी दोस्त श्री निरंजन सेन गुप्त के एक लेख के सहारे लिखा गया है, जिसका हिन्दी तर्जुमा श्रीयुत भगवान जी मिश्र ने करने की कृपा की थी—संम्पादक]

शचीन्द्र नाथ मित्र

(लेखक श्री अतुलचन्द्र गुप्त)

शचीन्द्र नाथ का नाम बहुत दिनों से सुना था. तालिब इल्मी के ज़माने से ही उनकी देशसेवा का थोड़ा बहुत हाल भी जानता था. कांग्रेस साहित्य संघ के सिलसिले में उनसे जान पहिचान भी हुई. वह इस संगठन के क़ायम करने वाले और सेक्रेट्री थे. वह ऐसे मेहनती थे जो थकान का नाम भी नहीं लेते. उनसे आमने सामने की पहिचान होने पर मैं ताज्जुब से भर गया. मेरा ख़याल था कि शुरू से मुल्क के लिये काम करने वाले और ख़ास कर नौजवान विद्यार्थियों के हेल मेल में रहने वाले इस आदमी में कम से कम नाम पाने की ख़ाहिश तो होगी ही. पर यह चीज़ तो उनमें ढूँढ़े भी न मिली. देश के ऊपर क़ुरबान होनेवाले इस आदमी की ज़िन्दगी देश की आम पब्लिक की ज़िन्दगी से जुदा क़िस्म की होगी, मेरा यह अन्दाज़ भी ग़लत साबित हुआ. उनके लिये ऐसा करना नामुमकिन था. ज़िन्दगी की यह सादगी ही उनकी असली ख़ूबी थी. तभी तो हर रोज़ बिना शानशौकत के वह मुल्क का काम करते रहते थे. लोग उनकी सादगी पर इस क़दर फ़िदा थे कि अनजान आदमी भी उनके हुक्म को टालना पसन्द नहीं करता था. उनकी ख़ुशमिज़ाजी, नरमी और मिठास से उनके जानने वाले बेहद ख़ुश थे. उनकी कामयाबी की भी शायद यही वजह थी. देश के काम को वह अपना ही काम समझते थे.

बापूजी के विचारों ने उन पर गहरा असर डाला था. हिन्दुस्तान को अंग्रेज़ों की ग़ुलामी से बचाने के लिये गांधीवाद को ही वह सबसे अच्छा तरीक़ा मानते थे. महात्मा गांधी ने आज़ाद भारत की जो तस्वीर खींची थी वह उनको पूरे तौर पर पसन्द. थी.गांधी जी के उसूलों के सांचे में उनकी आदतें बंध गई थीं. इसके साथ ही वह रवीन्द्र नाथ के विचारों के भी क़ायल थे. उनकी देशसेवा सिर्फ़ सियासी ही नहीं थी बल्कि चित्रकला, साहित्य और संगीत की तरक़्क़ी भी उनके ज़रिये हुई. तरह तरह के कामों को निभा लेने की कैसी ख़ूबी उनमें थी, यह बताना मुश्किल है. १५ अगस्त १९४७ को भारत की एक निराली तस्वीर मुल्क के आगे पेश करने के ख़याल से ही उन्होंने 'संगठत पत्रिका' का निकालना शुरू किया था. यह हमारी बदनसीबी है कि ज़रूरत के मौक़े पर यह बहादुर सिपाही हमसे बिछुड़ गया. मरने का जो नमूना उन्होंने पेश किया है, मालूम नहीं उससे देश का भला होगा या नहीं. इतिहास का चढ़ाव उतार जान सकना मुश्किल है. लेकिन शचीन्द्र नाथ मित्र का बड़प्पन, उनकी क़ाबलियत और क़ीमत में इससे कुछ फ़र्क़ नहीं आ सकता. उनकी ज़िन्दगी अपनी रोशनी से रौशन और अपने कामों से जगमग थी.

फ़िरक़ा परस्ती को वह बहुत नापसन्द करते थे और उसे मिटाने के लिये ही वह मर मिटे. उनकी ज़िन्दगी में जो सादगी थी वह उनकी मौत में भी क़ायम रही. किसी की कुछ शिकायत नहीं. सिर्फ़ उनके गुज़रने पर एक ही बात बार बार खटकती है कि ऐसा दूसरा आदमी तो कोई और दिखाई नहीं देता !

श्री स्मृतीश बनर्जी

[हिज़ एक्सलैन्सी श्री कैलाशनाथ काटजू गवर्नर पच्छिमी बंगाल का वह भाषन जो उन्होंने ३१ नवम्बर १६४८ को बाली (कलकत्ता) में शहीद स्मृतीश की मूर्ती पर से पर्दा उठाते हुए दिया था.]

आज हम शान्ति और अमन के उस सिपाही की याद ताज़ा करने के लिये इकट्ठे हुए हैं, जिसने इस कलकत्ता जैसे बड़े शहर में बसने वाली अलग अलग जमातों में प्रेम, शान्ति और आपस में रवादारी बनाये रखने की लगन में अपनी जान तक क़ुरबान कर दी. उन लोगों को, जो अपना होश हवास खो बैठे थे, स्मृतीश बनर्जी बिना किसी स्वार्थ या इनाम इकराम की ख़ाहिश के, इन्सानियत का पाठ पढ़ाने गया था. पिछले बीस बरस से बल्कि बचपन से ही उसने शान्ति क़ायम करने के लिये अपने आप को देश की सेवा में अर्पण कर रखा था. इसके लिये वह मैदान में उतरा. उसने अन थक कोशिश की. उसकी मौत बिलकुल मेरे दोस्त गणेश शंकर विद्यार्थी जैसी थी, जो सन् १६३१ में कानपुर के फ़िरक़ावाराना फ़साद में शहीद हुए थे. वह एक शानदार मौत थी. बंगाल के इतिहास में स्मृतीश बनर्जी का नाम अमर रहेगा और जैसा कि गांधी जी ने अपने संदेसे में कहा था "इस तरह की शानदार मौत के लिये किसी को रंज नहीं करना चाहिये." देश को ज़रूरत है और गांधी जी ने कहा था "मुझे ज़रूरत है कि हज़ारों स्मृतीश बनर्जी जैसे काम करने वाले आगे बढ़ें" आज हम उस महान् पुरुष की यादगार अपनी याद के लिये खड़ी कर रहे हैं ताकि हम उसे भूल न जायँ और यह यादगार

हमारे सामने रह कर हमें उस चीज की याद दिलाती रहे जिस के लिये वह अपनी जान पर खेल गया. हमें उस काम की अच्छाई और नेकी को समझ कर उसे आगे बढ़ाना चाहिये. एक तरह से तो यह यादगार हमारा सिर नहीं उठने देगी. अगर कोई विदेशी कलकत्ता आये और स्मृतीश बनर्जी की यादगार को देख कर पूछ बैठे कि यह चीज कौन से कारनामे को बताने के लिये है, तो मुझे यक़ीन है कि मैं और आप उस समय घबरा कर उदास दीखने लगेंगे और यह बताते हुए हमारा सिर शरम से झुक जायगा कि जब कलकत्ता के निवासी मज़हबी नफ़रत के कारण दीवाने हो गये थे, एक दूसरे से लड़ते झगड़ते थे बल्कि एक दूसरे की जान तक ले रहे थे, उस समय यह शराफ़त का पुतला उस भाई-भाई के फ़साद की लहर से टक्कर लेने को कलकत्ते की गलियों में निकला था. यह मज़हबी झगड़े हमारी शान में चार चांद नहीं लगाते बल्कि इन्सानी समाज की नज़रों में हम और भी गिरा देते हैं. यही बातें हमारे लिये डूब मरने की हैं. हमारे उन महात्माओं और पैग़म्बरों की शिक्षा, हमारी कलचर, हमारे बड़े बड़े मज़हब, हमारी समाजी जिन्दगी और हमारी संस्कृति को यह बट्टा लगाती हैं और हमें कौड़ी के लायक़ नहीं छोड़तीं. कलकत्ते को इसका जवाब देना होगा. सन् १९४६ में यहां मज़हबी पागलपन के शोले भड़के थे, नफ़रत फूट पड़ी थी और उसका असर दूर दूर तक फैला और उसने सारे मुल्क में बे अन्त दुख, मुसीबत और तबाही का रूप धारण किया. एक साल बाद हमारे सबसे बड़े नेता महात्मा गांधी के ज़रिये भगवान ने हमें उस आग पर क़ाबू पाने में मदद दी, और कलकत्ता ने वह शानदार मिसाल क़ायम की कि जिसपर हर हिन्दुस्तानी और हर विदेशी उस मज़हबी भाई चारे को देख रश्क खाता था. कुछ ही दिन बाद फिर इन्सानी दिमाग़ पर भूत सवार हुआ. तब स्मृतीश बनर्जी जैसे मनुष्य आगे बढ़े और सर धड़ की बाज़ी लगा, जान को दाँव पर रख, कलकत्ते के माथे पर कलंक के टीके को लगने से रोकने में काम आये. गांधी जी ने फिर अपनी जिन्दगी को खतरे में

डाल कलकत्ते में सुख और शान्ति का बोल बाला किया. पिछले बारह मास के और अपने पूरे तजरबे की बिना पर मैं दावे से कह सकता हूँ कि आज कलकत्ते के अलग अलग फ़िरक़ों में पड़ोसियों जैसा मेल मिलाप और प्यार है. पाँच महीने हुए जब यहाँ आने पर मैं कलकत्ते के हर हिस्से के आदमियों से मिला तो तमाम शहरियों में भाई चारा और प्रेम की गाढ़ी छनती देख मेरा दिल खुशी से झूम उठा था. लेकिन यह जादू जिसे गांधीं जी और स्मृतीश बनर्जी जैसे जादूगरों ने फूंका था एक बार फिर बेकार गया. मुहर्रम के आख़िरी दिन के झगड़े की खबर ने बीमारी के बिस्तरे पर भी मुझे परेशानी और फ़िकर में डाल दिया. पर शुकर है कि दोनों तरफ़ के लोगों के जल्दी ही होश संभाल लेने पर और क़ानून और शांति क़ायम करने के लिये गवर्नमेंट और उसके अफ़सरों ने समझदारी के जो क़दम जल्दी ही उठाए उनकी बदौलत फ़साद का गला शुरू में ही घोंट दिया गया. इतने बड़े शहर में अमन जल्दी ही क़ायम हो गया. लेकिन यह सब कुछ तब तक न हो सका जब तक कि कुछ घर न उजड़ चुके और कुछ बच्चे यतीम न बन गए और यह उस समय तक होता रहेगा जब तक कि गवर्नमेंट का फ़र्ज़ न हो जाए कि वह अमन और इंसाफ़ को बनाए रखे. ज़रूरत पड़ने पर पर सरकार ताक़त ही के बल पर यह कर सकती है. लोगों की हिंसा, लड़ाई, झगड़े, फ़साद और ईंट पत्थरों का जवाब पुलीस को डण्डों, आँसू गैस और चारो नाचार गोलियों ही से देना पड़ता है. सरकार को अपना फ़र्ज़ तो निभाना ही होगा. लेकिन फिर भी अमन क़ायम रखने की ज़िम्मेदारी का बोझ लोगों ही के कन्धों पर है. सरकार तो केवल ठीक तरह के हिफ़ाज़ती इंतज़ाम करके चोरी चमारी, डाकाज़नी या लोगों के माल व जान की रक्षा, पुलीस के तरीक़ों से जुर्मों की रोक थाम करके कर सकती है. पर इन मज़हबी झगड़ों के लिये लोगों की अपनी इन्सानियत की आवाज़ को ऊपर उठना होगा. हम उस राज की स्थापना कर रहे हैं जहाँ मज़हबों की तमीज़, रंग रूप

और नसल में फ़रक़ कुछ मानी नहीं रखते, क़ानून की नज़र में हर शहरी का जान व माल बिना किसी भेद भाव के प्यारा समझा जायगा. हर शहरी को अपना जीवन बिताने और अपने ईश्वर अल्ला की पूजा बंदगी करने की आज़ादी और बराबर के अधिकार होंगे. यही हमारे जैसे आज़ाद और रवादार देश में होना चाहिये. हमारे महात्माओं और शास्त्रकारों का भी यही कहना है. एक सच्चे हिन्दू के लिए यह सबसे बढ़कर फ़खर की बात है कि उस का मज़हब दूसरे सब मज़हबों की इज़्ज़त करता है और उनका आदर करना सिखाता है. एक हिन्दू के लिए पूजा बंदगी का हर तरीक़ा उसे भगवान के नज़दीक ले जाता है. सोच विचार और पूजा बंदगी की आज़ादी ही तो हमारे जीवन की रुह है. किसी भी इन्सानी समाज या मज़हब के नज़दीक किसी आदमी को खुदा के नाम पर अपाहज कर देने या मार डालने से बढ़ कर और कोई पाप नहीं है. मुझे भरोसा है कि कलकत्ता शहर के अमन और शांति के शैदाई इस मामले में अपने फ़र्ज़ को पहिचानेंगे. वह हिन्दुस्तान के सबसे बड़े शहर के बासी हैं. जो कुछ यहाँ होगा उसी का रंग कहीं और जा खिलेगा और इन दिनों जब कि वह हवा जिसमें हम साँस लेते हैं, इन शकों और बेएत-बारियों के कारण ज़हरीली हो चुकी है, यह बदले लेने के सपने मँहगे पड़ेंगे. इसलिए हमारी बड़ी ज़िम्मेदारियाँ हैं. मेरे इतना कह देने से कुछ फ़रक़ नहीं पड़ता कि सरकार थोड़ी या बहुत गिनती वाली जातों के बुनियादी शहरी हक़ों में फ़र्क़ करती है या नहीं. आज क़ानून को क़ानून की इज़्ज़त करने वाले हर शहरी की हिफ़ाज़त करनी होगी. किसी भी मज़हब का कोई भी आदमी बिना किसी दबाव या दबदबे के अपने विचारों को सबके सामने रख सकता है. क़ानून को भंग करने वाला किसी भी मज़हब का क्यों न हो, भले ही ऊँचे दरजे का हो, उसे मुनासिब सज़ा मिलेगी ही. एक आदमी के बुरे कामों की सज़ा सारी जमात ही क्यों भुगते और न कोई कभी यह वहम या गुमान करे कि कुछ आदमियों की काली करतूतों का बदला बहुतों से लिया जायगा. बल्कि जैसा मैं कह

चुका हूँ, सरकार तो हिन्सा का सिर कुचलने को हमेशा तय्यार है लेकिन इस बात की ज़िम्मेदारी का बोझ तमाम बिरादरी पर है. हिन्दू, मुस्लिम, ईसाई या पारसी कलकत्ता में एक बड़े घराने की तरह आबाद हैं और उन्हें एक खानदान के आदमियों की तरह रहना चाहिये. किसी एक हिन्दू या मुसलमान के कई सौ मील की दूरी पर बैठकर किसी ग़लती के कर देने का नज़ला कहीं और दूर मासूम और अमन पसंद लोगों पर गिरे, भला यह कहाँ का इन्साफ़ हुआ ? यह तो जहालत, ना समझी और जानवर पना है. यही सच भी है. हम इस बात को भूल जाते हैं और इस भूल की क़ीमत हमें दुख, मुसीबत, खून और आँसूओं से चुकानी पड़ती है. आओ आज हम इस बात को हमेशा के लिए गिरह में बाँध लें. इतने बड़े हिन्दुस्तान की आबादी अलग अलग धर्मों से बनी है और सारी जनता एक होकर एक बड़े राज के लिए मिलकर सेवा करने में जुटी हुई है. और जब तक किसी शहरी में देश की सच्ची सेवा करने की लगन है उसके साथ भाई चारे का बरताव होना ही चाहिये. बाक़ी सरकार पर छोड़िये, यह उसका फ़र्ज़ है कि अगर कहीं कोई ज़ुल्म हो जाता है या कहीं हमारे राज के बाहर कोई घटना हो जाती है तो वहाँ की हालत ठीक ठाक करने के लिए मुनासिब जतन करे. लेकिन अपने राज के अंदर हमें एक दूसरे से दोस्त, साथी और एक बड़े मुल्क का अपना भाई बन्द समझ कर पेश आना चाहिये. मुझे मालूम है मैंने कोई नई बात नहीं कही लेकिन कई दफ़ा इन छोटी-छोटी बातों को भुला देने से ही बहुत भारी नुक़सान पल्ले पड़ जाता है. यह ग़लतियाँ हमें हर क़ीमत पर त्याग ही देनी होंगी. मैं आशा करता हूँ और ईश्वर अल्ला से प्रार्थना करता हूँ कि स्मृतीश बनर्जी की यादगार इस बड़े शहर में हमेशा अमर रहे और हममें से हर एक को एक दूसरे के साथ भाई चारे के सच्चे रास्ते पर ला खड़ा करे. कलकत्ते के कूचे-कूचे और घर घर में शांति और प्रेम का हमेशा राज रहे.

अनुवादक—श्री० जितेन्द्र कौशिक

श्री स्मृतीश बनर्जी

[लेखक—एक साथी]

आज़ादी मिलने के बाद जब कलकत्ते में हमारे देश की आज़ादी के दुश्मनों ने फ़िरक़ापरस्ती की आड़ लेकर इन्सानियत और आज़ादी को ख़तरे में डाल दिया था और क़रीब-क़रीब कामयाब से हो चुके थे, तब जिन थोड़े से देशभक्तों ने अपनी जान देकर भी इस साज़िश को बेकार कर दिया था, उनमें से एक थे श्री स्मृतीश बनर्जी, जो इसी तरह के एक दूसरे शहीद श्री शचीन्द्र मित्र के प्यारे साथी थे.

श्री स्मृतीश बनर्जी छोटी सी उम्र से ही देशभक्तों के दल में शरीक हो गये थे. सन् १९२७ में जब वह आठवें या नवें दर्जे में पढ़ते थे, बंगाल के क्रान्तिकारी दल के एक अच्छे कार्य कर्ता थे. बाद में सन् १९३० में एफ़० ए० पास करते ही वह गांधीजी के 'नमक क़ानून तोड़ो' आन्दोलन में शरीक हो गये और उत्तरपाड़ा (कलकत्ता) कांग्रेस कमेटी के एक स्वयं सेवक की हैसियत से इस आन्दोलन में काम करते हुए उन्होंने एक बरस की क़ैद काटी थी.

१९३१ में जेल से छूटने पर वह 'गणनायक' नाम के अख़बार के एडीटर हो गये, साथ ही गांधीजी के हरिजन आन्दोलन में भी उन्होंने अच्छी दिलचस्पी ली. हुगली में किसान आन्दोलन की नींव भी आपने ही डाली थी. सन् १९३४ में आप डाक्टर भूपेन्द्र नाथ दत्त के साथ,

'मेमन सिंह जन साहित्य संघ' में शामिल हुए और वहां से लौटते ही फिर गिरफ़्तार कर लिये गये.

सन् १९३५ में जेल से छूटते ही फिर उन्होंने अपना काम शुरू कर दिया. बंगाल सूबे के विद्यार्थियों की सबसे बड़ी सभा 'बंगीय छात्र परिषद' के आप एक खास कार्य कर्ता थे और इसी ज़माने में आपने किसान मज़दूरों का संगठन भी काफ़ी मज़बूत बना लिया था. आप आल-इंडिया किसान सभा की वर्किंग कमेटी के मेम्बर भी थे और बंगाल सूबे की कम्यूनिस्ट पार्टी के हल्क़ों में भी आपका क़ाफ़ी असर था.

'त्रिपुरी कांग्रेस' से लौटकर श्री स्मृतीश ने जनता का एक नये सिरे से संगठन करना शुरू किया. इस पर १९४० में आप फिर गिरफ़्तार कर लिये गये. सन् १९४२ तक आप हिजली जेल में बन्द रहे. वहाँ से छूटने पर आपने कम्यूनिस्ट पार्टी से इस्तीफ़ा दे दिया और सिर्फ़ कांग्रेस के झंडे के नीचे ही काम करने का फ़ैसला किया. इसी ज़माने में आप बंगाल सूबा कांग्रेस कमेटी की वर्किंग कमेटी के मेम्बर चुने गये.

१९४५ में आपने आज़ादी की लड़ाई का एक इतिहास तस्वीरों में तय्यार कराया. कांग्रेस की इजाज़त पर यह तस्वीरें बम्बई और इन्दौर में दिखाई गईं और वहाँ बेहद पसन्द की गईं. इन तस्वीरों में सिराजुद्दौला और अंग्रेज़ों की लड़ाई से लेकर १९४२ तक की तहरीकों को दिखाया गया था और यह तस्वीरें बंगाल के नामी चित्रकारों ने तय्यार की थीं.

१ सितम्बर १९४७ को श्री शचीन्द्र मित्र और श्री स्मृतीश ने इन तस्वीरों की एक नुमायश कलकत्ता यूनीवर्सिटी के सीनेट हाल में करने का फ़ैसला किया था, लेकिन यकायक बलवा भड़क उठने की वजह से आपने यह प्रोग्राम मुलतवी कर दिया और आप श्री शचीन्द्र के साथ शान्ति क़ायम करने में लग गये. एक सितम्बर को ही श्री शचीन्द्र एक शान्ति जुलूस को निकालते हुए छुरे के शिकार हुए, लेकिन शान्ति जुलूसों का सिलसिला जारी रहा. ३ सितम्बर बुधवार को इसी तरह के एक जुलूस को

निकालते हुए श्री स्मृतीश बनर्जी भी छुरे के शिकार बने और कुछ ही देर में एक अस्पताल में आप भी स्वर्ग सिधार गये.

लेकिन शान्ति और इन्सानियत के दुश्मनों ने आपको मारकर जैसे खुद अपनी छाती में छुरा भोंक लिया था. बलवे के उस दहशत से भरे ज़माने में आपकी अरथी के साथ हिन्दू मुसलमानों की एक बड़ी भीड़, जिसमें बगाल के बड़े बड़े नेता भी थे, श्मसान तक गई और वहां उसने आपकी चिता की राख हाथ में लेकर यह क़सम खाई कि अब कलकत्ते में फ़िरक़ा परस्ती के राक्षस को ज़िन्दा नहीं रहने देंगे. इसके बाद ही कलकत्ते में शान्ति होना शुरू हुई. इस तरह श्री स्मृतीश ने हज़ारों बेगुनाहों की जान बचाने के लिये अपने अनमोल प्रानों को खुशी खुशी शान्ति की वेदी पर चढ़ा दिया.

श्री स्मृतीश अमर हैं, वह कभी मर नहीं सकते.

श्री वीरेश्वर घोष और सुशील गुप्ता

[सम्पादक]

श्री शचीन्द्र मित्र और श्री स्मृतीश बनर्जी के साथ ही श्री सुशील गुप्ता और श्री वीरेश्वर घोष* भी एकता और भाई चारे का प्रचार करते हुए शहीद हो गये थे. हमें इस बात का बेहद दुख है कि काफ़ी कोशिश करने के बाद भी हम इन दो शहीदों की ज़िन्दगी के हालात नहीं पा सके और न उनकी तस्वीरें ही हासिल कर सके. हां, इतना ज़रूर मालूम हो सका है कि दोनों ही विद्यार्थियों में देशभक्ती का प्रचार करते थे. इन दोनों की मौत पर बंगाल के बड़े से बड़े नेताओं ने अफ़सोस ज़ाहिर किया था और इनकी शहादत ने कलकत्ते को ख़ून ख़राबे को रोकने में काफ़ी मदद की थी, इससे ज़ाहिर होता है कि वह अपने हल्क़ों में काफ़ी असर रखते थे.

इन दोनों शहीदों के चरणों में हम अदब से अपना सर झुकाते हैं।

---

*हमें उम्मीद है कि अगले एडीशन में हम इन दोनों शहीदों की ज़िन्दगी के पूरे हालात दे सकेंगे—सम्पादक.

["शहीद शेरवानी" लेख के लेखक भाई वीर वीरेश्वर जी उन बहादुर काश्मीरी नौजवानों में से हैं, जो क़बयलियों के हमले के वक़्त, बजाय इसके कि और लोगों की तरह भाग आते, काश्मीर में ही जमे रहे थे और निराशा की उन घड़ियों में बड़े धीरज के साथ एक ज़िम्मेदारी की जगह पर काम करते रहे थे. इसके बाद जब काश्मीर की हालत काफ़ी सुधर गई, तब आप अम्बाला आ गये और आज कल अम्बाला के डी० ए० वी० कालेज में प्रोफ़ेसर हैं.

शहीद शेरवानी से वीरेश्वर जी का निजी परिचय था, इसीलिये इस लेख में एक ऐसा दर्द है, जो पढ़ने वालों के दिल को छूए बिना नहीं रह सकता.

वीर वीरेश्वर जी हर एक मसले पर खुद अपने तौर पर सोच विचार करते हैं और कभी किसी संगठन या जमात की बात आँखें मूँद कर नहीं मान लेते. इसीलिये कुछ लोग उन पर यह इलज़ाम लगाते हैं कि उनके दिल में हिन्दू फ़िरक़ा परस्ती का ज़हर भरा हुआ है. दूसरी तरफ़ ऐसे लोग, जिनके इरादे और करतूतें अब जग ज़ाहिर हो गई हैं, उन पर यह इलज़ाम लगाते हैं कि वह मुसलमानों के साथ पक्षपात करते हैं. ऐसे ही वक़्त शायद किसी शायर ने अपना वह मशहूर शेर कहा होगा—

"ज़ाहिदे तंग नज़र ने मुझे काफ़िर समझा
और काफ़िर यह समझता है, मुसलमाँ हूँ मैं."

लेकिन वीर वीरेश्वर जी को न इनकी परवाह है और न उनकी. वह दोनों के इलज़ामों पर मुस्करा देते हैं. कभी कभी उनको दुख भी होता है, क्योंकि आखिर वह भी आदमी ही हैं. लेकिन उनको समझना चाहिये कि इस निठुर दुनिया का सिर्फ़ उनके ही साथ यह बरताव नहीं है.

वीर वीरेश्वर जी जैसी दुनिया चाहते हैं, वैसी ही दुनिया बन जाय, यही हम सब की कामना है.

—सम्पादक]

शहीद शेरवानी

[भाई वीर वीरेश्वर जी प्रोफ़ेसर डी० ए० वी० कालेज, अम्बाला]

२२ अक्तूबर १९४७ की मनहूस सुबह को पाकिस्तान की शह पर क़बायली हमलावरों ने श्रीनगर (कश्मीर) के उत्तर-पच्छिम की ओर से हमला किया. दिन चढ़ने से पहले पहले सारा शहर मसान बन गया. हर तरफ़ से आग की लपटें उठ रही थीं. मकान, गोदाम, दूकान और गुरद्वारे, मन्दिर, मसजिद सब धू धू करके जल रहे थे. किशन-गंगा का मीठा नीला पानी बेगुनाहों के ख़ून से लाल हो चला था. सारा दरिया लाशों से पाट दिया गया. मनों सोना चाँदी कोहाला के रास्ते रावलपिंडी पहुँचाया गया और दिन भर लूटमार और अस्मतदरी का बाज़ार गर्म रहा. इसके दूसरे दिन हमलावर आँधी की तरह बढ़ते बढ़ते तीस चालीस मील और आगे बढ़ आये और दोपहरी तक मुज़फ़्फ़राबाद से उड़ी तक के सारे गाँव खाक कर दिये गये. कुछ लोग, जो जान बचा कर भाग निकलने में सफल हो गये थे, हांपते काँपते, गिरते पड़ते बारामूला चले आये. उड़ी के नज़दीक होने के कारण यह ख़बर सबसे पहले बारामूला में पहुँची. वहाँ लोगों में भय और आतंक छा गया लेकिन उन्हें अपने छोटे शेर मीर मक़बूल शेरवानी पर पूरा भरोसा था. शेरवानी ने अपने फ़र्ज़ को पहिचाना और जनता को तसल्ली देकर और उसे अपना फ़र्ज़ सुझाकर ख़ुद मोर्चे पर गया, जहाँ रियासती फ़ौज की एक टुकड़ी ब्रिगेडियर राजेन्द्र सिंह की कमान में नामला पुल पर हमलावरों को रोकने की आख़िरी

कोशिश कर रही थी. वहाँ से कुछ मील वापस आकर शेरवानी रामपुर में ठहरा. वहाँ लोगों को अपना फ़र्ज़ अदा करने के लिये उभारा हमलावरों से अपने देश को बचाने के लिये उसने एकता को सबसे ज़रूरी बताया.

जब शेरवानी इस तरह रामपुर में लोगों के हौसले बढ़ा रहा था, श्रीनगर में इस हौलनाक हादिसे की खबर जंगल की आग की तरह फैल रही थी. वहाँ लोगों के हौसले और भी पस्त हो गये. जब बारामूला रोड का ट्रेफ़िक बन्द हो गया तो लोग बड़ी-बड़ी क़ीमतें दे कर टाँगों और बैलगाड़ियों में चले आने लगे. हालात बड़ी तेज़ी से बदल रहे थे और मक़बूल शेरवानी .खुद इस बात को महसूस कर रहा था, इसलिये कुछ देर रियासती फ़ौज के साथ दुश्मन को रोकने का काम अपने कुछ साथियों को सौंप कर वह .खुद अपने शहर बारामूला की फ़िज़ा को संभालने के लिये चला आया. २४ की सुबह को वहाँ पहुँचते ही उसने लोगों के दिलों में एक नई उम्मीद और उनके सीनों में एक नया जोश और बाज़ुओं में एक नयी ताक़त भर दी. देश के नाम पर उसने सारी जनता से प्रार्थना की कि अपने प्यारे देश की मर्यादा के मुताबिक़ ही हिन्दू, मुसलमान और सिख भाई एक होकर अपने सुन्दर देश को बचायें. इस तरह भीतरी हिफ़ाज़त का भार नैशनल कानफ़रेन्स कमेटी पर छोड़कर वह असली हालत को समझने के लिये श्रीनगर चला आया श्रीनगर में हमले की खबर सुनते ही नैशनल कानफ़रेन्स ने हिफ़ाज़ती दस्ते तैयार करने शुरू कर दिये थे और उसका दफ़्तर लाल चौक के पास वाले कारोनेशन होटल में खोल दिया गया था. उसी शाम को मायसुमा चौक में शेरे कश्मीर शेख मुहम्मद अब्दुल्ला ने सारी घटना को जनता के सामने रक्खा और दस हज़ार ऐसे नौजवानों के लिये अपील की जो इस आड़े वक़्त में देश के बचाव के लिये काम कर सकें. मक़बूल शेरवानी ने भी शायद इस अपील को सुना और जलसे के बाद ही वह अपने क़ायदे आज़म शेरे कश्मीर शेख अब्दुल्ला से कारोनेशन होटल में मिला.

आज के शहीद

मीर मक़बूल शेरवानी

शेरवानी की दिलेरी को शेख ने काफ़ी सराहा. लोग कहते हैं कि कुछ देर बाद जब वह उनसे बात-चीत करके बाहर आया तो उसके मुँह से गम्भीरता, धीरज और एक मुस्तक़िल इरादे के भाव झलक रहे थे. ऐसा दिखाई दे रहा था कि उसने एक भारी मुहिम को सर करने का आख़िरी फ़ैसला कर लिया है.

हमलावरों की बढ़ती हुई कारवाइयों की ख़बरें बराबर आ रही थीं. बारामूला में व्यापार के काम से रुके हुए लोग भी धड़ाधड़ लौटने लगे. इसी समय महोरा पावर हाउस फ़ेल हो गया. सारे शहर में रोशनी की जगह अंधेरा ही अंधेरा दिखाई देने लगा. इससे यह अन्दाज़ लगाया गया कि क़बायली महोरा पावर हाउस, जो बारामूला से कुछ मील ही दूर है, तक आ पहुँचे हैं. शहर में इससे और भी मायूसी बढ़ चली. श्रीनगर में सारी हुकूमत की बन्दिश ढीली होने लगी, लेकिन नैशनल कानफ़रेन्स ने राजधानी और इससे आगे और अड़ोस-पड़ोस के इलाक़ों को बचाने का इन्तज़ाम शुरू किया. इस हालत में शेरवानी की ज़िम्मेदारियाँ और भी बढ़ गईं और ख़ासकर जब कि हमलावर उसके घर के दरवाज़े तक आ गये थे और उसके साथी उसकी राह देख रहे थे. बारामूला की जनता को शेरवानी पर काफ़ी यक़ीन था. उसे उसकी नेक दिली और हमदर्दी पर पूरा भरोसा था. और इसी बल पर उसने सन् ४४ में आल इंडिया मुस्लिम लीग के सदर मिस्टर जिनाह के पैर वहाँ नहीं जमने दिये थे. ता० २६ अक्तूबर की सुबह को ही मोटर साइकिल लेकर शेरवानी बारामूला की ओर चला आया. बारामूला रोड उस दिन ख़तरे से ख़ाली नहीं थी. इक्के-दुक्के क़बायली उस सारी सड़क पर छा गये थे जो श्रीनगर से बारामूला जाती है और फिर दिन को किसी भी समय क़बायलियों के बढ़ आने का पूरा-पूरा इमकान था, लेकिन शेरवानी रोकने पर भी न रुक सका. बारामूला उसे बुला रहा था. जिस बारामूला में वह अब तक लोगों में सच्ची बेदारी फैलाता रहा, नैशनल कानफ़रेन्स के उसूलों के मुताबिक़ भाई चारे का पाठ पढ़ाता रहा, उसी अपनी मातृभूमि को वह आज अकेला

कैसे छोड़ सकता था. वह बारामूला पहुँचा. वहाँ उसके वालन्टियर पहले ही हिफ़ाज़ती दस्ते का काम कर रहे थे और इस बात के लिये होशयार थे कि कहीं वहाँ पर फ़िरक़ेवाराना बलवा न खड़ा हो जाय. शेरवानी ने आते ही उनको हिन्द यूनियन और कश्मीर के बीच चलने वाली बात चीत की खबर सुनाई और उन्हें शेरे कश्मीर का यह संदेश सुना दिया कि "कश्मीरी मुसलमान को हिन्दुस्तान और पाकिस्तान के हिन्दू-मुसलमानों के लिये एक मिसाल क़ायम करनी है. क़बायली हमारे हिन्दू और सिख भाइयों पर ज़ुल्म ढा रहे हैं. मुसलमानों को अपनी जान पर खेलकर अपने हिन्दू सिख पड़ोसियों की हिफ़ाज़त करनी पड़ेगी क्योंकि हर हिन्दू और सिख की जान मेरे लिये अमानत है........."

वक़्त कम था और काम ज़्यादा. क़बायली हमलावरों के बढ़ते आने की खबर बराबर आ रही थी, यहाँ तक कि आस पास के गाँवों से गोलियों की आवाजें भी सुनाई देने लगीं लेकिन शेरवानी अपना काम बराबर करता गया. शेरे कश्मीर का संदेश हर एक मुसलमान तक पहुँचाता रहा. लोग जब अपने घरों में अपनी जान और माल को बचाने की तदबीरें सोच रहे थे तो शेरवानी अपने घर को योंही छोड़कर मोटर साइकिल पर आस पास के गाँवों और क़स्बों, जैसे सोपुर और पटन में जाकर लोगों के हौसले बलन्द करता रहा. वह हिन्दुओं और मुसलमानों से भाई भाई की तरह रहने की अपील करता था, और इस तरह से अपने देश और अपनी इज़्ज़त को बचाने की तदबीरें बताता था. वह जनता को हमलावरों को रोके रखने की हिम्मत दिलाता था ताकि वह उसी रफ़्तार से श्रीनगर न पहुँच सकें जिस रफ़्तार से वहाँ तक आ पहुँचे थे. इस तरह जगह जगह उनके लिये रुकावटें पैदा करके वह चाहता था कि वहाँ तक पहुँचते पहुँचते दुश्मन को कुछ दिन और लग जायँ जिससे शायद हिन्द से कुमक आ जाय और देश का बचा हुआ हिस्सा बरबादी और तबाही से बच जाय. उसे अपने घर की चिन्ता नहीं थी. सारा कश्मीर उसका अपना घर था और सारी हिन्दू मुसलमान जनता

उसकी भाई बहन थी; सोपुर से लौटकर वह पटन जा ही रहा था कि उसे बारामूला के गिरने का समाचार मिला. आस पास के देहातों और क़बायलियों के हमलों की खबर वह बराबर श्रीनगर में नैशनल कानफरेन्स के दफ़्तर पर पहुँचाता रहा. एक बार ख़ुद भी उसे वहाँ जाना पड़ा. तब उसके दोस्तों ने उसे रोक लेना चाहा था लेकिन वह रुक न सका उस वक़्त सभी हिन्द सेना के आने के इन्तज़ार में थे क्योंकि हिन्द से नाता तय हो चुका था, नैशनल मिलेशिया के अफ़सरों का खयाल था कि शेरवानी को फ़ौज के आने पर मिलेशिया के साथ बारामूला भेजा जाय, लेकिन यह खयाल शेरवानी को पसन्द न आ सका. इधर श्रीनगर के बाज़ारों में हिफ़ाज़ती दसते और क़ौमी फौज (मिलेशिया) "हमलावर—खबरदार, हम कश्मीरी—हैं तैयार" के नारों से आसमान को गुन्जा रही थी. लोगों के दिलों में जोश भर रही थी—उन्हें एक होकर देश पर मर मिटने के लिये उभार रही थी. और उधर शेरवानी सचमुच हमलावरों से लड़ने चल दिया.

इस बार बारामूला जाते वक़्त उसे रास्ते के लिये भेस भी बदलना पड़ा. वह एक क़बायली सा बना और उनसे मिलकर वह उन्हें कई टुकड़ियों में बाँटता गया ताकि कहीं वह काफ़ी तादाद में इकट्ठे होकर किसी एक तरफ़ न चढ़ आयें. वह उन्हें बराबर भटकाता रहा जिससे कि उनको ठीक रास्ता न मिल सके. और दूसरे दिन २७ अक्तूबर को जब हिन्द सेना हवाई जहाज़ों में श्रीनगर आई तो क़बाइलियों के होश उड़ गये. वह श्री नगर के दरवाज़ों तक पहुँच गये थे और अब उन्हें इस बात का अफ़सोस हो रहा था कि रामपुर और बारामूला में वह क्यों रुके रहे. अब शेरवानी की ज़िम्मेदारियाँ और भी बढ़ गईं. वह हिन्द सेना को भी इत्तला देता और क़बायली हमलावरों का भी पता रखता. वह क़बायलियों को ठीक उसी रास्ते पर लगा देता था जिससे कि वह हिन्द सेना का ठीक-ठीक निशाना बन सकें. पटन से कुछ दूर श्रीनगर की तरफ़ सिंहपुर में उसकी इस चाल से क़बायली काफ़ी तादाद में काम

आये. उनका दूसरा बड़ा कैम्प पटन में था. शेरवानी पहले उसे निशाना बनवाना चाहता था ताकि क़बायली डरकर पीछे हट जायँ और उसके बाद उन्हें और पीछे धकेल दिया जाय. इसमें भी वह कामयाब रहा और पटन में उनकी एक खासी टुकड़ी उड़ा दी गई. यहाँ से कुछ क़बायली सुम्बल गांव की ओर चले आये. आते ही वहाँ उन्होंने सारे गाँव में हाहाकार मचा दिया. शेरवानी फ़ौरन ही वहाँ भी पहुँचा और वहाँ के तमाम हालात हिन्द सेना के पास भेज दिये, जिससे वहाँ के क़बायलियों को काफ़ी नुक़सान उठाना पड़ा. क़बायली सरदारों और फ़ौजी अफ़सरों को अपनी इस अचानक हार पर हार देखकर अचंभा हुआ. उन्हें अब इस नये पठान (शेरवानी) पर शक होने लगा और उन्होंने छानबीन करनी शुरू कर दी. कुछ खास आदमी सिर्फ़ इसीलिये तैनात किये गये. बात यह थी कि क़बायलियों को मुज़फ़्फ़राबाद से बारामूला तक कहीं भी ऐसी मुँहकी नहीं खानी पड़ी थी और न उनके आदमी ही इतनी तादाद में कहीं मारे गये थे लेकिन यहाँ दो तीन दिनों में ही काफ़ी आदमी काम आये इससे उनका शक और भी बढ़ गया. एक दिन सुम्बल से बारामूला आते आते एक मुस्लिम लीगी ने इसका भेद क़बायलियों को दिया और दूसरी सुबह शेरवानी क़बायलियों की क़ैद में था.

बारामूला में जो हालत उसने अपने भाई बहनों की देखी उसे देखकर उसका दिल रो उठा था. वहाँ हिन्दुओं और मुसलमानों को समान तौर पर लूटा गया था. उनके मकानों को आग लगा दी गई थी. औरतों की बेइज़्ज़ती की गई थी. यह सब देखकर उसका ख़ून खौल उठा था. जब उसे इस्लाम के नाम पर "जिहाद" की बातें सुनाई गईं तो उसने निडर होकर उनकी बातों का जवाब दिया और साफ़ साफ़ कहा—"इस्लाम के नाम पर नन्हे नन्हे बच्चों और औरतों को क़त्ल करना 'जिहाद' नहीं कहलाता. औरतों की बेइज़्ज़ती करना, उन पर हमला करना, लूट मार करना यह सब इस्लाम की तालीम नहीं है—हिन्दू और मुसलमान सब एक ही ख़ुदा के बेटे हैं. मुहब्बत

और सच्चाई इस्लाम के दो बड़े उसूल हैं...' लेकिन बर्बर क़बायलियों के मुँह से भेड़ियों की तरह इन्सानी ख़ून लग चुका था. मुफ़्त माल की चाट उन्हें पड़ चुकी थी. शेरवानी की इस साफ़ गोई से वह और भी बिगड़े. वह उस पर टूट पड़े. उसे 'ग़द्दार' साबित किया गया और तय हुआ कि दूसरे दिन जुम्मा की नमाज़ के बाद उसे सूली पर चढ़ा दिया जाय.

३१ अक्तूबर—जुम्मा (शुक्रवार) को सारे क़स्बे में डोंडी पिटवा दी गई ताकि सभी लोग इकट्ठे हों और 'नाफ़रमानी' की सज़ा को देख लें. सूली पहले ही तैयार थी जो चौक में एक मकान के सहारे बनाई गई थी. सबसे पहले उसे सलीब पर लटका दिया गया. हाथों में कीलें ठोंकी गईं और उससे हिन्द सेना का हाल पूछा गया. लेकिन उसने कुछ भी बताने से इन्कार कर दिया तब उसकी पेशानी पर 'यह गद्दार है' की तख़्ती कील से ठोंकी गई. शेरवानी बड़े धीरज से खड़ा खड़ा यह तमाम ज़ुल्म सहता रहा. उसकी ज़बान से 'उफ़' तक न निकली. लोग उसकी हिम्मत को देखकर जोश में आते थे, लेकिन चारों तरफ़ क़बायली भेड़ियों से घिरे हुए होने की वजह से बेबस थे. वह ख़ून के आँसू रोने लगे लेकिन आँसू पीते गये. शेरवानी के होंठों पर एक अजीब सी मुस्कराहट खेल रही थी जैसे कि वह अपना फ़र्ज़ निभाने पर ख़ुश ख़ुश मर रहा हो. इस्लाम के ठेकेदारों ने उसे जुम्मा की नमाज़ तक पढ़ने नहीं दी, जो उसकी आख़िरी ख़ाहिश थी इस पर वह चीख़ उठा—

"हिन्दू मुस्लिम सिख इत्तिहाद—ज़िन्दाबाद"

"नया कश्मीर—ज़िन्दाबाद"

"शेरे कश्मीर—ज़िन्दाबाद"

इन नारों पर क़बायली सरदार और भी बिगड़े. अब उस पर गोलियाँ दाग़ी गईं, उसके बदन को छलनी बना दिया गया. और लोगों में दहशत क़ायम रखने के लिये लाश वहीं रहने दी गई ताकि फिर कोई ऐसी हरकत करने की हिम्मत न करे.

कश्मीर के इस हमले में मक़बूल शेरवानी का बलिदान अपने क़िस्म का एक अनोखा बलिदान है जिसमें वफ़ादारी, प्रेम, हमदर्दी, देशभक्ति और इन्सानियत सभी चीज़ें एक साथ मिलती हैं.

मक़बूल शेरवानी अपने माँ बाप का अकेला सहारा था, अपने घर का अकेला दीपक था. अपने जीवन और जवानी को सुख और विलास में न डालकर उसने अपने देश की भेंट चढ़ा दिया. उसकी आवाज़ मरते दम तक यही रही—"एक बनकर रहो, एक होकर दुश्मन से लड़ो, अपने देश को बचाओ." जब उसे बारामूला बचता दिखाई न दिया तो उसकी सारी कोशिश श्रीनगर के बचाव की ओर लगी. इसीलिये आज वह कश्मीर के हर एक घर का दीपक है हर देशभक्त का सहारा और आदर्श है. नैशनल कानफ़रेन्स पहले ही बापू के आदर्श पर चली आ रही है और कश्मीर को इस बात का गर्व है कि वह बापू की शिक्षा की एक जीती जागती मिसाल है, जहाँ जनता पूरे भाई चारे से निबाह करती है. धर्म को राजनीति के साथ नहीं मिलाती और सांप्रदायिकता के साँप का मुँह वहाँ हमेशा के लिये कुचल दिया गया है. शेरवानी इसी नैशनल कानफ़रेन्स का एक जोशीला कारकुन था और इसी तालीम ने उसे यह हौसला दिया. उसने बापू की तालीम को सचाई के साथ समझा था और उसी पर अपना जीवन न्योछावर कर दिया. ख़ुद बापू ने शेरवानी की शहादत पर अपनी श्रद्धांजलि चढ़ाई थी और शेरे कश्मीर ने अपने इस बहादुर सिपाही की मौत पर कहा था—

"हज़ारों बरस तक हमारी आने वाली नसलें अभिमान से मुहम्मद मक़बूल शेरवानी की क़ायम की हुई इस मिसाल को याद रक्खेंगी. क़बायलियों के पंजे में आकर वह अपना जीवन बलिदान करने से न घबराया ताकि उसकी मौत से हमारा सुन्दर देश बच सके. ख़ुदा उसकी आत्मा को शांति दे........"

और सच मुच मीर मुहम्मद मक़बूल शेरवानी जैसे शहीद पर कश्मीर

जितना भी घमंड करे कम है. कश्मीर की आज़ादी के इतिहास में उसका नाम सोने के अक्षरों से लिखा गया है.

आज हिन्दुस्तान में जब मैं फ़िरक़ा परस्तों की जहालत से भरी बातें सुनता हूँ और ऐसे लोगों को, जिनकी तमाम ज़िन्दगी अंग्रेज़ सरकार के पैर चाटते बीती है, कश्मीर की नैशनल कानफ़रेन्स पर, शेख़ अब्दुल्ला पर और अपने देश के नेताओं पर मुस्लिम परस्ती का शक ज़ाहिर करते हुए देखता हूँ, तो मेरे दिल में एक टीस सी होने लगती है और मैं सोचने लगता हूँ कि मेरी इस प्यारी और शानदार हिन्दू क़ौम को हो क्या गया है, जो उन पर भी शक कर रही है, जो उनके लिये जान दे रहे हैं. मैं कश्मीर के ऐसे बहुत से हिन्दुओं को जानता हूँ, जो पाकिस्तान से साज़बाज़ करने में शरीक थे, या जो इस मुसीबत के वक़्त या तो चोर बाज़ारी करके दौलत भरने में लगे हुए थे या अपना माल मता समेटकर, जो उन्होंने हम ग़रीब कश्मीरियों को चूस-चूस कर इकट्ठा किया था; भाग आने को तय्यार थे. लेकिन काश्मीर का बच्चा-बच्चा जानता है कि शेख़ अब्दुल्ला ने ठीक वक़्त पर हमारे और अपने प्यारे कश्मीर को बचा लिया.

दिल तो चाहता है कि इस वक़्त उन ग़द्दारों के काम पर भी कुछ रोशनी डालूँ, जो पहिले तो हमेशा कश्मीर में हिन्दू मुसलमान का सवाल खड़ा करके आम जनता को कुचलने में हुकूमत की मदद करते रहे, और जब मुल्क पर मुश्किलें आईं, तब भी जितने भी बुरे से बुरे काम उनसे हो सकते थे, उन्होंने किये. यह सोचकर ही मेरा दिल काँप उठता है कि अगर पिछले ज़माने में पं० जवाहर लाल नेहरू शेख़ अब्दुल्ला की हिमायत में कश्मीर न पहुँचते. तो आज हमारी क्या हालत होती ! लेकिन हमारी ख़ुश क़िस्मती थी कि हम ठीक वक़्त पर बचा लिये गये.

एक कश्मीरी की हैसियत से मुझे मक़बूल शेरवानी पर नाज़ है और मुझे इस बात पर भी गर्व है कि जब कश्मीर के पड़ोस में भाई-भाई के गले पर तलवार चला रहा था, तब काश्मीर के मुट्ठी भर हिन्दू

अपने मुसलमान पड़ोसियों के बीच निहायत इज़्ज़त के साथ बिना किसी खतरे के रह रहे थे. इसकी वजह यह क़तई नहीं थी कि वहाँ एक हिन्दू राजा की हुकूमत थी. अगर हिन्दू हुकूमत ऐसी हिफ़ाज़त कर सकी होती, तो नैशनल कानफ़रेन्स के संगठन से पहिले कश्मीर में क्यों बलवे खड़े होते, जिसमें हिन्दुओं को काफ़ी नुक़सान उठाना पड़ा था. बल्कि इसकी असली वजह कश्मीर के शेर शेख़ मुहम्मद अब्दुल्ला और मक़बूल शेरवानी जैसे बहादुर उनके सिपाहियों का आम जनता पर असर था, जिसने पिछले नौ दस बरसों से कश्मीर में कभी भी फ़िरक़ा परस्ती को पनपने ही नहीं दिया. एक बार मिस्टर जिन्ना ख़ुद भी इसके लिये वहाँ पहुँचे थे, लेकिन शेख़ साहब के सामने वह टिक नहीं पाये थे. इसी तरह हिन्दू फ़िरक़ा परस्तों ने भी वहाँ हिन्दू मुसलमान सवाल खड़ा करने की काफ़ी कोशिश की, लेकिन उनको भी नाकामयाब होना पड़ा.

आज भी मेरे कश्मीर में फ़िरक़ा परस्ती और इन्सानियत के बीच एक भारी जंग चल रही है. कश्मीर के बेटे और बेटियाँ बड़ी दिलेरी से उसमें हिस्सा ले रहे हैं और हिन्दुस्तान की फ़ौजों के साथ कन्धे से कन्धा मिला कर पाकिस्तानी फ़ौजों से जग कर रहे हैं. पाकिस्तान की तरफ़ से वहाँ इस बात का काफ़ी प्रचार हो रहा है कि हिन्दुस्तान में मुसलमानों पर भारी ज़ुल्म हो रहे हैं, इसलिये कश्मीर के मुसलमानों को हिन्दुस्तान की हिमायत छोड़ देनी चाहिये. हिन्दुस्तान में कभी कभी जो बलवे हो जाते हैं, उससे पाकिस्तान को भारी मदद मिलती है. लेकिन कश्मीर के सपूत अपने उसूलों और अपने इरादों पर आडिग हैं, क्योंकि उनको बारामूला के शहीद शेरवानी की वह आख़िरी पुकार याद है. कश्मीर कभी फ़िरक़ापरस्ती के आगे नहीं झुकेगा, नहीं झुकेगा, नहीं झुकेगा!

कश्मीर ज़िन्दाबाद.
नेशनल कानफ़रेन्स ज़िन्दाबाद.
मक़बूल शेरवानी ज़िन्दाबाद.

जय हिन्द

[हैदराबाद के अमर शहीद शोऐबुल्ला खान पर यह लेख बहन ज्ञान कुमारी जी हेडा ने लिखा है, जिन्होंने ख़ुद हैदराबाद में प्रजा राज क़ायम कराने की लड़ाई में बड़ी बहादुरी से हिस्सा लिया है. इस लेख से हमको यह सबक़ मिलता है कि हमारे देश के जो लोग या जो संगठन हैदराबाद के मसले को 'हिन्दू-मुस्लिम' मसला बना देना चाहते थे, वह जनता को कितना बड़ा धोका दे रहे थे. क्योंकि एक तरफ़ तो हैदराबाद में हज़ारों हिन्दू ऐसे थे, जो निज़ाम और रिज़वी के साथ थे और दूसरी तरफ़ शोऐबुल्ला खान जैसे मुसलमान भी थे, जो बड़ी बहादुरी से निज़ाम और रिज़वी की मुख़ालफ़त करते थे और आख़िर इसी के लिये शहीद हो गये.

एक बात यह और ग़ौर करने की है कि हैदराबाद में एक आदमी भी किसी ऐसे संगठन का नहीं मारा गया और न जेल गया, जो अक्सर वक़्त बेवक़्त हिन्दू मुसलमान का सवाल उठाते रहते हैं. वहाँ उन लोगों को ही रज़ाकारों का मुक़ाबला करना पड़ा, जो हिन्दू-मुसलमान सभी को एक नज़र से देखते हैं.

शोऐबुल्ला खान की शहादत से एक सबक़ यह भी मिलता है कि कभी-कभी रिज़वी जैसे लोग जनता को इतना गुमराह कर देते हैं कि उसे 'दिल्ली पर आसिफ़ जाही झंडा फरहाने की' पागलपन से भरी हुई बात तो अच्छी लगती है और शोऐबुल्ला खान जैसे अपने सच्चे भला चाहने वालों की बातें कड़वी मालूम होती हैं. ठीक यही हालत आज से

कुछ साल पहिले हमारी थी, जब हमें बापू की बातें कड़वी मालूम होती थीं और जो लोग जोशीली बातें कहते थे, उनकी बातें अच्छी मालूम होती थीं. आज हैदराबाद के वह लोग, जो उस वक़्त रिज़वी के साथ थे, इस बात पर पछताते हैं कि वह उस वक़्त शोऐबुल्ला खान के कहने पर क्यों नहीं चले. ठीक यही हालत हमारी भी है. काश! हैदराबाद के लोग शोऐबुल्ला खान की और हम बापू की शहादत से पहले ही इतना समझ सकते!

काश! अब हम आगे ही ऐसी ग़लतियों से बच सकें. —सम्पादक]

———

आज के शहीद:

जनाब शोऐबुल्लाह ख़ाँ

मुहम्मद शोऐबुल्ला ख़ान

[बहन शान कुमारी हेडा, हैदराबाद]

उस दिन प्यारे बापू बेजवाडा जा रहे थे. रास्ते के एक स्टेशन मानकोटा (महबूबाबाद) पर पुलिस इन्सपेक्टर मौलवी हबीबुल्लाखान का इन्तज़ाम था. गान्धी जी की दुबली पतली देह और सचाई के नूर से चमकते हुए उनके चेहरे ने मौलवी हबीबुल्लाखान पर एक अजीब ही असर डाला. गान्धी जी का प्यारा रूप उनकी आँखों में समा गया. गाँव लौटे, तो खबर मिली कि वह एक बेटे के बाप हो गये हैं. मौलवी हबी-बुल्लाखान ने अपने बेटे को देखा, तो वैसी ही तेज भरी आँखें और चौड़ा माथा देखते ही बोले—"अरे, यह तो बिलकुल गांधी है।" और तब से वह उसे 'गांधी शोऐबुल्लाखान' कह कर पुकारा करते थे.

* * *

गान्धी जी के गोली लगी. बापू हमेशा के लिये चल बसे. शोऐबुल्ला-खान अपनी सीढ़ियों पर सर पकड़ कर बैठे थे, आँखों से आँसू टपक पड़े. इस तरह से कभी ग़मगीन न होने वाले अपने बेटे की आँखों में आँसू देख कर माँ ने कहा—"बेटा! गान्धी महात्मा तो इतनी अच्छी मौत पाकर मरे हैं, फिर तू रोता क्यों है?"

बेटे ने अपनी आँसू भरी आँखों से माँ की तरफ़ देख कर कहा—"अम्मी! मैं भी ऐसी ही मौत पाऊँ तो तुम आँख में आँसू नहीं लाओगी न?"

माँ सहम उठीं.

विधाता ने उसकी क़िस्मत में यही तो लिख दिया था. बापू का यह सच्चा भक्त ठीक उनकी ही तरह चल दिया. बापू ने भी अपनी क़ौम (अगर बापू की कोई क़ौम थी तो) के फ़िरक़ा परस्तों के आगे सर झुकाने से इंकार कर दिया था, क्योंकि वह हिन्दू धर्म के शानदार सुनहरे नाम पर बेकस और बेबस इन्सानों के ख़ून के छींटे नहीं देखना चाहते थे और शोऐबुल्ला ख़ान ने भी सब कुछ जानते समझते हुए भी रज़ाकारों के आगे सर झुकाने से इन्कार कर दिया था, क्योंकि इस्लाम के नाम पर रज़ाकार जो कुछ कर रहे थे, उसे शोऐबुल्लाख़ान जैसा सच्चा मुसलमान बर्दाश्त नहीं कर सकता था. इसीलिये जब हैदराबाद के सैकड़ों हिन्दू निज़ाम की और रज़ाकारों की तारीफ़ के गीत गाकर अपना मतलब पूरा कर रहे थे, तब शोऐबुल्लाख़ान ने पूरी ताक़त से रजाकारों की मुख़ालफ़त की और उसका 'नतीजा उनको वही भुगतना पड़ा, जो बापू को भुगतना पड़ा था. तभी तो उनके बूढ़े माँ बाप बिलख बिलख कर कहते हैं— "बेटे, तुमतो उन्तीस बरस की भरी जवानी में ही उनासी बरस के महात्मा के पीछे उसी तरह चल बसे."

* * *

लगभग पन्द्रह दिन पहले एक दिन दोपहरी में बातचीत के बीच मैं उनकी उमर पूछ बैठी. वह तपाक से हँसते हँसते बोले—"अक्तूबर महीने में पैदा होने वाले बड़े भाग्यशाली होते हैं बहन! गान्धी जी दो अक्तूबर को पैदा हुए थे और मैं अट्ठारह अक्तूबर को पैदा हुआ हूँ." उनकी इस बात पर हम दोनों खिलाखिला कर हँस पड़े, क्योंकि हम दोनों भी ११ और १४ अक्तूबर को पैदा हुए हैं.

एक दिन हेडाजी ने हमेशा की मानिन्द मज़ाक़ और किसी हद तक गम्भीरता के साथ भी उनसे कहा—"देखो मियाँ! तुम क़लम बहुत चलाते हो और तुम्हारे पेपर पर जल्दी जल्दी सैन्सर शिप का आर्डर भी आता

है. हुकूमत या मजलिस कांग्रेसी हिन्दू से पहिले कांग्रेसी मुसलमान को खत्म करना सोचेगी, हमारे पास पहले तिरमिज़ी साहब थे. अब तुम उस हलक़े के नेता हो, जो सचाई और शान्ति का निडर प्रचारक है. हाँ, एक ही सूरत में वह तुम्हारा खयाल शायद छोड़ दे कि तुम्हारे जैसे मुसलमान को मार कर वह खोखली हो जायगी. दूसरे मुल्कों में उसे मुँह दिखाने को जगह नहीं मिलेगी. वरना मुझे तो हमेशा यह डर रहता है कि पहला वार तुम पर ही होगा. हो सकता है कि नवाब मंजूर जंग वग़ैरा का यह बयान आने के बाद वह पहले इन नेशनलिस्ट मुसलमानों को रास्ते से हटाये, तुम्हारा नम्बर बाद में आवे."

हेडाजी की इस बात के जवाब में शोऐब भाई सिर्फ़ एक लुभावनी हँसी हँस कर रह गये थे.

हाय ! विधाता को हमारे इसी डर को सच साबित करके हमें कल-पाना था. निडर और बहादुर शोऐब भाई तरह तरह की मुश्किलों का सामना करते हुए, अपने मुसलमान मजिलसी भाइयों के ताने, गालियाँ, धमकी, सभी कुछ सहते हुए अपनी क़लम इन्साफ़, सचाई और शान्ति के लिये चलाते ही रहे. उनके रोएँ रोएँ में देश और क़ौम की सेवा का सच्चा भाव भरा हुआ था. अपने मारे जाने की बात को वह मीठी मुस्कान के साथ टाल दिया करते थे.

* * *

२० अगस्त १९४८ को शोऐब भाई को एक खत मिला, जिसमें उनको "गान्धी का बेटा" को गाली देकर मार डालने की धमकी दी गई थी. इसी तरह के खत पहले भी कई बार मिल चुके थे. उसी रात को उनके अखबार 'इमरोज़' के दफ़्तर में स्टेट कांग्रेस के नेता और उनके गहरे दोस्त श्री बी० रामकिशन राव और हेडा जी से उस खत का ज़िक्र हुआ. रामकिशन राव जी ने कहा—'शोऐब ! तुम इसे गाली नहीं समझ सकते ?"

जवाब में शोऐब भाई ने कहा—"गान्धी जी मेरे ही क्या, पूरे मुल्क के पिता थे. इससे बढ़कर मेरी तारीफ़ क्या हो सकती है. मेरी आरज़ू है कि मैं इसके क़ाबिल बनूँ." रामकिशनराव जी उनके इस आखिरी जुमले पर कुछ चौंक से गये और बोले—"लेकिन तुमको संभल कर रहना चाहिये." लेकिन होनी ने उनसे कहलवाया—"मुझे तो फ़ख्र होगा अगर मैं बापू की ही तरह चला जाऊँ."

और तीस घंटे भी न बीत पाये थे कि वह बहादुर गान्धी जी की ही तरह हँसते हँसते चल बसा.

* * *

२२ अगस्त को 'इमरोज़' का अंक निकला. न जाने पहली रात को अखबार एडिट करते हुए शोऐब भाई को क्या सूझा कि "आज के लिये खयाल" में उन्होंने मशहूर इंक़लाबी शायर 'जोश' मलीहाबादी की नीचे लिखी रुबाई भी लिख डाली—

"तक़रीर के वक़्त क्यों न बोलूँ साक़ी ?
क्यों दिल की गिरह मय से न खोलूँ साक़ी ?
बरबाद तो होना है बहरहाल मुझे
दे जाम कि आबाद तो होलूँ साकी."

नीचे के दोनों मिसरों में तो जैसे उन्होंने अपने दिल की तस्वीर ही खींच कर रख दी थी.

* * *

२१ ता० को दो घंटे तक शोऐब भाई मेरे घर पर हमेशा की तरह आकर बैठे. हैदराबाद की हालत पर चर्चा चली. हेडा जी ने उनसे फिर कहा—"शोऐब साहब ! आप अपने लिये सोचिये. वह जगह बदल डालिये. संभल कर रहने में क्या हरज है ?" लेकिन बहादुरी और हिम्मत का वह पुतला अपने विश्वास और अपने विचार से टस से मस न होता था. उसने अपनी उसी पुरानी मुस्कराहट के साथ कहा—"जो होना है, वही

होने दीजिये. मेरी क़ुर्बानी भी हुई, तो वह खाली नहीं जायगी. हो जाने दीजिये. जो खुदा को मंज़ूर है."

इसके बाद दूसरी बातें छिड़ गईं. हैदराबाद के नुमाइन्दों का यू० एन० ओ० में जवाब देने के लिये उनको कुछ साथियों को लेकर पेरिस, अमरीका वग़ैरा में जाना चाहिये, इस मसले पर भी हम सबने विचार किया. उस वक़्त हममें से कौन जानता था कि यह मुलाक़ात और यह बातचीत बस आख़िरी है. और मैं ही क्या जानती थी कि भाई शोऐब अब कभी इस घर में अपनी इस खास मुस्कराहट के साथ 'आदाब बहिन' कहते हुए नहीं आ सकेंगे."

* * *

२१ तारीख़ को हम लोग बेफ़िक्री की नींद सो रहे थे और उधर रात को सवा बजे वह शेर शहीद हो रहा था. पिस्तौल की गोलियों से छाती और अन्तड़ियाँ छलनी की जा रही थी. क़ासिम रिज़वी के हुक्म की तामील हो रही थी, क्योंकि वह एक ऐसे ग़द्दार थे, जिनकी क़लम हमेशा मुल्क की भलाई के लिये, हैदराबाद में आसफ़जाही झंडे के नीचे सच्चे प्रजाराज के लिये, और हैदराबाद की भलाई को खयाल में रखकर हिन्द यूनियन में शिरकत करने की हिमायत में चलती रही थी. सिर्फ़ दस महीने ही तो हो पाये थे, जब 'इमरोज़' रोज़ाना हुआ था. लेकिन इन दस महीनों में ही शोऐबुल्ला खान की क़लम ने मजलिसी और सरकारी हल्क़ों में खलबली मचा दी थी. उनकी क़लम में कुछ ऐसा ही जादू था.

क़रीब पाँच बरस पहिले की बात है, क़ायदे मिल्लत नवाब बहादुर यार जंग, जो उस वक़्त इत्तिहादुल मुसलमीन के सदर थे, की मौत के बाद आला हज़रत निज़ाम साहब ने मजलिस के अगले प्रोग्राम और फ़र्ज़ पर रोशनी डालने के लिये अपने दस्तख़तों के बिना कुछ फ़र्मान निकालने शुरू किये. यह फ़र्मान 'सुबहे दकन' अखबार के ऊपर के पेज

पर मोटे मोटे हुरूफ़ में छपते थे. हैदराबाद के नेशनलिस्ट मुसलिम हलक़ों में इन फ़र्मानों का जवाब देने की जरूरत महसूस की जा रही थी, लेकिन सवाल यह था कि बिल्ली के गले में घंटी कौन बांधे ? उन दिनों भाई शोऐब ने "ताज" नाम के अख़बार में अख़बार नवीसी की ज़िन्दगी शुरू ही की थी. उन्होंने फ़ौरन ही कहा—"सचाई को सामने रखने में भी आगा पीछा सोचने की क्या जरूरत है ?" दूसरे ही दिन 'ताज' में उनके नाम से एक लेख छपा, जिसमें बहुत ही साफ़ साफ़ लफ़्ज़ों में उन्होंने इस बात पर कड़ी नुक्ता चीनी की कि शाही फ़र्मान बिना दस्तख़त के क्यों निकल रहे हैं और कैसे निकल सकते हैं. इसके अलावा कोई बादशाह किसी फ़िरक़ा परस्त संगठन के झमेले में कैसे पड़ सकता है ? वग़ैरह. इसका नतीजा यह हुआ कि 'ताज' उसी दिन बन्द करा दिया गया और भाई शोऐब उसी दिन से हुकूमत की आँख में कांटे की तरह चुभने लगे थे. फिर 'इमरोज़' में उन्होंने पिछले दस महीनों से जो लेख लिखे, उन लेखों ने तो क़ासिम रिज़वी और हुकूमत दोनों को दहला सा दिया था. उनके पैर लड़खड़ाने लगे थे. फिर भला रिज़वी इतने बड़े 'ग़द्दार' को कैसे सहन कर सकता था, जिसकी क़लम उसकी अन्धी अक़्ल के मुताबिक़ 'ममलिकते आसफ़िया' के ख़िलाफ़ चल रही थी.

१९ अगस्त को सुबह साढ़े दस बजे ज़मुर्रद महल टाकीज़ में हिटलर के पाकिट एडीशन रिज़वी ने 'निजात दिन, मनाये जाने के सिलसिले में कहा था—

"ग़द्दार हर जमाने में थे. यहाँ और इस वक़्त भी मौजूद हैं. मुझे इसकी पर्वाह नहीं है, मैं तुम्हारा नुमाइन्दा हूँ. मैं हर उस हाथ को काट दूँगा, जो 'ममलिकते आसफ़िया' (आसफ़जाही साम्राज्य) के ख़िलाफ़ उठेगा.................."

ठीक है, बापू को भी तो फ़िरक़ा परस्त हिन्दू 'ग़द्दार' कहते थे और

इसी तरह मारने की धमकी देते थे, क्योंकि बापू इन्साफ़ की बात कहते थे. लेकिन तानाशाही इन्साफ़ की बात कब पसन्द करती है ?

* * *

रिज़वी ने जो कुछ कहा, उसे सच करके भी दिखा दिया. शोऐब और इस्माईल खान २१ तारीख की रात को आफ़िस से लौट रहे थे. पहिले उनको गोलियों का शिकार बनाया गया और फिर उनका सीधा हाथ और बायाँ हाथ काटा गया. इसी तरह का हमला शोऐब भाई के साले और 'इमरोज़' के मैनेजर इस्माईल खान पर भी किया गया. गोली उनकी बाँह को छूती हुई निकल गई. वह चिल्लाये—"शोऐब भय्या को मारा जा रहा है." कुछ पड़ोसी और उनकी पत्नी शोर सुन कर बाहर आये. देखकर वह चीखीं और फिर पड़ोसी की मदद से भीतर ले जाने लगीं. पसली के नीचे गोली लग कर आर-पार हो गई थी. एक गोली छाती पर भी लगी थी. इतने पर भी हिम्मत का वह धनी कुछ क़दम पैदल चला, लेकिन घर के फाटक के सामने आकर गिर गया. आधीरात में सुनसान सड़क पर नामर्दों ने फिर इस बेबस और घायल नौजवान पर तलवारों के वार किये. यह मज़हबी दीवाने सचमुच ऐसे ही बहादुर होते हैं. बापू के दुबले पतले शरीर पर गोलियाँ चलाते वक़्त भी यह लोग जैसे बड़ी भारी बहादुरी समझ रहे थे.

हाथ कट चुके थे. एक बाँह पर छै और दूसरी पर चार गहरी चोटें थीं, सीधी तरफ़ आधा सिर घायल था. कान लटक पड़ा था, लेकिन हिम्मत ने तब भी साथ नहीं छोड़ा था.

इसी बीच पड़ोसी की मदद से एम्बूलैन्स कार आ गई. पुलिस भी आ पहुँची. पुलिस अफ़सर को उन्होंने अपना बयान देना चाहा, लेकिन पुलिस ने मजिस्ट्रेट न होने का बहाना करके बयान लेने से इन्कार कर दिया. साज़िश पूरी थी, फिर भी उन्होंने क़ातिलों के नाम बताये, जो शायद उसी मुहल्ले के और आस-पास के थे. चाँदनी रात थी, इसलिये पहिचानना आसान था.

अस्पताल में बूढ़े बाप से उन्होंने कहा—"आपने मुझे इकलौता समझ कर बड़े नाज़ों से पाला था, (शोऐब भाई अपने ग्यारह भाई बहिनों में अकेले बचे थे) लेकिन मुझमें तो पठान का ख़ून था—आप समझते थे मेरा लाल नाज़ुक तबियत का है ! अब्बा ! मेरे चोट बहुत लगी है. पेट में सख़्त दर्द है. मेरे तीन गोलियाँ लगीं, इतनी चोट है—पर अब्बा ! मैंने उफ़ तक नहीं की. क़ातिल भी समझ लें कि मैं एक पठान था.... अब्बा ! लड़कियों का ख़याल रखना...मेरा 'इमरोज़' जारी रहे....मेरे अज़ीज़ों को बुला...."

ठीक साढ़े चार बजे उस उन्तीस बरस के होनहार नौनिहाल को हमसे हमेशा के लिये मौत छीन ले गई. उनके साथी, हम लोग उनके याद करने पर भी वक़्त पर न पहुँच सके. ताज्जुब है कि इतनी सख़्त चोटों के बावजूद वह तीन घन्टे तक कैसे ज़िन्दा रहे और इतनी बातें इतनी हिम्मत के साथ कैसे कर सके ? हाँ, यह सब उस बहादुर की शान में चार चाँद लगाने के लिये हुआ.

२२ ता० को सुबह दिल को बैठा देने वाली यह खबर सुनी. हम सब अपना माथा ठोंक कर रह गये. हेडा जी के मुँह से निकल पड़ा—"सबसे बड़ी क़ुर्बानी हमने दे दी. हैदराबाद की आज़ादी इससे भी बढ़ कर और क्या क़ुर्बानी चाहती है ?"

मैं फ़ौरन शोऐब भाई के घर पहुँची. कुछ और साथी अस्पताल गये. घर पर माँ और पत्नी का विलाप और अस्पताल में बेजान देह के अलावा और क्या मिलने वाला था.

पोस्टमार्टम वग़ैरह के बाद साढ़े बारह बजे लाश घर पर लाई गई. लाश पर से ख़ून से भरी चादर सरकाई, तो चेहरे पर वही शान्ति, वही धीरज और होठों पर वही धीमी, मीठी मुस्कान खेल रही थी. तीन घंटे से ज़्यादा इतनी कड़ी तकलीफ़ें सहने के बाद भी उनके माथे पर एक सिकुड़न तक नहीं थी. सुना है कि बापू के चेहरे पर भी तो ऐसी ही शान्ति बिराज रही थी.

बेजान देह को नहला धुला कर खादी में लपेटा और डोले में रख कर बाहर ले जाया गया. हज़ारों लोग आखिरी दर्शनों को आ जा रहे थे और बाहर खड़े इन्तज़ार कर रहे थे. माँ बेहोश सी थीं, उनको बड़ी मुश्किल से घर से बाहर निकलने से रोका गया. फिर भी वह पागलों की तरह पूरी ताक़त से अपने को सबसे छुड़ाकर फाटक पर आ गईं. डोला मोटर पर रखा गया और जैसे ही मोटर स्टार्ट हुई, माँ पूरी ताक़त से चिल्लाईं—"शोऐबुल्ला खान ज़िन्दाबाद."

तमाम जनता ने सिसकती हुई आवाज़ में उनका साथ दिया—"शोऐबुल्ला खान ज़िन्दाबाद.'

आह ! शहीद शोएब !!
यह तुझ पर किसके हाथ उठे !!!

(लेखक—श्री हरिश्चन्द जी हेडा)

गुज़रे दिनों की पुरानी आदत से बेवफ़ाई कर, हैदराबाद शहर खामोशी की चादर ओढ़े गहरी नींद सो रहा था. आकाश पर तैरते चाँद की झिलमिलाती किरणें चाँदी उंडेल उसे नहला रही थीं. उस मनहूस दिन, अगस्त की २१ तारीख़ को रात के दो बजा चाहते थे. चारों ओर हू का आलम था. हर चीज़ मानो मौत की गोद में अटूट नींद सो रही थी. मालूम होता था जैसे सारी सृष्टि पर फ़ालिज गिर गया हो. ज़मीन व आसमान का कोना कोना खामोश, चुपचाप बिना हिले डुले जैसे सकते में गिरा हुआ था. लेकिन एक जगह शायद कोई चहल-पहल हो. वह जगह जिसे मुजाहिदे आज़म का सरकारी बड़ा दफ़्तर कहते हैं. इसकी चाल तो दुनिया से निराली होगी ही. पर नहीं. ओह ! मालूम होता है आज चाँद की तबाशीर बिखेरती चाँदनी ने, इसके चारों ओर अपना जादू डाल, आख़िर इसे भी बेहोशी की दवा पिला ही दी. पर यह क्या ! यह कैसी आवाज़ है. दारुस्सलाम के पास यह किसके क़दमों की चाप सुनाई दे रही है ! कोई क़दम बढ़ाता चला आ रहा है. वह नज़दीक आ रहा है. अब तो कुछ-कुछ साफ़ भी दिखाई देने लगा. यह तो कोई हाथों में एक गठरी उठाए हुए है.

रात की देवी ने अपना मंत्र फूँक सारी दुनिया को तो बेकार कर दिया था. पर यह मन चला, हाथों में गठरी दबाए, जोश की हालत में, तेज़ क़दम उठाता, आगे ही आगे चला आ रहा है. यह कौन होगा ? धरती का चलता फिरता कोई ज़िंदा मनुष्य या कोई भूत प्रेत ? बड़े बूढ़े कहा करते थे कि बुरी आत्मायें अकेले में भटका करती हैं. वह किसी को उजाड़ने, तबाह बरबाद करने निकलती हैं और किसी पर बुरी नियत कर, किसी की बनती बिगाड़ने में ही उनको आनन्द आता है. वरना इस सुनसाने में इस ख़ुशी से कौन जाता ?....... ओह ! हे भगवान् !! यह तो भूत प्रेत नहीं है, कोई बुरी तड़पती हुई आत्मा भी नहीं, बल्कि यह तो कोई सचमुच माँस और हड्डी गोश्त पोस्त का बना इनसान है जो तेज़ी से छलांगता, फांदता भागा चला आ रहा है. अगर मेरी आँखें मुझे धोका नहीं दे रहीं तो यह वर्दी !......उस पर लटकती हुई यह बंदूक़ और तलवार !! यह कोई रज़ाकार तो नहीं ? रज़ाकार, जिसके ज़ुल्म के कारनामे सुन रौंगटे खड़े हो जाते हैं, बदन में कंपकंपी पैदा हो जाती है. जिसके जुर्मों की करतूत एक कभी न खतम होने वाली कहानी है. बिलकुल वही मालूम होता है. आह !...वही है. और कोई हो भी कौन सकता है. इस अँधियारी जगह जहाँ न कोई क़ानून चलता है न ही कोई पूछने या टोकने वाला है. और किसी की भला क्या हिम्मत कि फ़ौजी वर्दी पहने, खौफ़नाक हथियार बाँधे घूम फिर सकने की सोचे. एक करेला दूसरे नीम चढ़ा. यही रंग ढंग तो इसकी करतूतों में एक नई बात जोड़ देते हैं. तो क्या आज कहीं हमला होगा, किसी को लूटा खसोटा जायगा; या फिर..... किसी की जान ली जायगी ? आज़ाद लोक राज के लिए लड़ रहे, किसी शरीफ़ सिपाही की जीवन ज्योति बुझाने को यह आँधी का सामान तो नहीं इकट्ठा किया जा रहा ? परमात्मा जाने...यह आधी रात बीते दारु-स्सलाम में इसे ऐसा भी क्या काम आन पड़ा ? उस गठरी में भला क्या हो सकता है ? कोई क़ीमती तोहफ़ा या कोई...डरावना हथियार. पर नहीं, यह चीज़ें नहीं हो सकतीं. इन बेरहम डाकुओं के सरदार के

पास ऐसी चीज़ों की कमी नहीं है. अब वह इन के पीछे कहाँ ठोकरें खाता होगा.

इसकी वर्दी कहती है कि यह तो रज़ाकार सालार है...लो वह दरवाज़े के सामने ठहर गया. रात को इस सियाह तारीकी में सालार को ख़ुश-ख़ुश आता देख, पहरेदार के होटों पर भी मुस्कराहट खेलने लगी. सालार की अन्दर जाते ही अपने मालिक पर निगाह पड़ी. वह परेशान हुआ, बेचैनी से कमरे के एक कोने से दूसरे कोने तक चक्कर काट रहा था. क्या वह इसी मुलाक़ात का बेसब्री से इंतज़ार कर रहा था या किसी और ही दूसरी बात पर झुंझला रहा है.

सालार को उसी दम अन्दर जाने की इजाज़त मिल गई.

"अल्ला हो अकबर" बरकतपुर के रज़ाकार सालार ने ठाठ से सलाम ठोंकते हुए कहा.

कुछ जवाब देने से पहले मुजाहिदे आज़म ने सालार पर एक गहरी नज़र डाली और फिर बोला—"कहो सालार, आज तुम बहुत ख़ुश दिखाई दे रहे हो. यह तुम्हारे हाथ में क्या है ?"

"यह एक क़ीमती तोहफ़ा है सरकार. जिसे अपने रहनुमा की ख़िदमत में पेश करने की इज़्ज़त मुझे मिल रही है. यह उस ग़द्दार का हाथ है जो कभी काफ़िर शोऐबुल्ला ख़ान कहलाता था."

"शोएब !" मुजाहदे आज़म ने चिल्लाकर हैरानी से पूछा और उस बंडल को लेने को उसके हाथ आगे बढ़े. उसके चेहरे से साफ़ टपकता था कि इसमें वह एक इज़्ज़त महसूस करता है. उसने सालार की तरफ़ कुछ इस तरह देखा जैसे इतनी बात से उसकी अभी तसल्ली नहीं हुई. उसके कान अभी कुछ और सुनना चाहते हैं.

"मैंने पहले उस पर गोली चलाई और फिर अपनी तलवार से उसका हाथ काट डाला. एक बार में ही उसका हाथ मेरे हाथ में था. सारी बात इतनी आसानी से हो गई कि बच्चों का खेल मालूम हुई. रात के एक बजे,

दरख़्त के पीछे छुप कर, निहत्थे आदमी पर निशाना साध देना क्या मुश्किल था."

"लेकिन तुम्हें कुछ तो देर लगी होगी. वह चिल्लाया भी तो होगा."

"नहीं हु.जूर वाला, बिलकुल नहीं. वह तो एक ढीठ मंजा हुआ काफ़िर था. बच्चा जी चिल्ला कैसे पाते, इसके पहले कि कोई आता हमने जी खोलकर दो, तीन, चार, पाँच, क्या पूरे छै हाथ तलवार के दिए."

"ओह ! तो ऐसे हुआ. क्या वह अपने इरादों में इतना बुज़दिल था ?" मुजाहिदे आज़म ने घबराई हुई आवाज़ में चिल्लाते हुए कहा. पर उसे अपनी आवाज़ में मिली हुई घबराहट अखरी. उसने फ़ौरन एकान्त के लिए कहा.

"तुम जा सकते हो. मैं बहुत .खुश हूँ." यह शब्द उसने बड़ी मुश्किल से कहे. उसे अपनी आवाज़ बेपहचानी मालूम हुई. और सालार, वह .खुद हैरान था कि आख़िर बात क्या है.

सालार उस समय जा चुका था.

"तुम क्या सचमुच .खुश हो."

"तुम .... तुम कौन हो ?"

"तुम्हारी आत्मा"

"क्या तुम अभी तक ज़िंदा हो ! जी चाहता है तुम्हें इसी दम मौत के घाट उतार दूँ."

"तुम ऐसा कर ही नहीं सकते. सुनो, हम दोनों इकट्ठे मरेंगे. ख़ैर छोड़ो. यह तो बताओ कि जो कुछ तुम्हारे रज़ाकारों ने किया है क्या वह वाक़ई जायज़ और ठीक किया है ?"

"हाँ, हाँ, क्यों नहीं. वह बहादुर हैं. उनकी रगों में जवान .खून है और यह काम उनकी बहादुरी का एक नमूना है."

"ऐसी बेवकूफ़ी की बातें मेरे सामने न करो. तुम मुझे धोका नहीं दे

सकते, तुम अपने रज़ाकारों को बहका सकते हो. तुम उन्हें अलिफ़ लैला की कोई ऐसी कहानी सुनाकर कि आठ रज़ाकार हिन्दुस्तानी फ़ौज के सात सौ सिपाहियों से लगातार सात घंटे लड़ते रहे, अपना उल्लू सीधा कर सकते हो; पर मुझे नहीं बहला सकते.

"सुनो, तुम डरपोक हो और यह काम बुज़दिली का है. तुम्हारा रज़ाकार भी इस बात को मान लेगा कि इस काम में रत्ती भर भी उसे बहादुरी नहीं दिखानी पड़ी. उसे ज़रा सरहद तक भेज के देखो, तो तुम्हें सब आटे दाल का भाव मालूम हो जावेगा. उसकी बहादुरी जानना चाहते हो तो वहीं पता चल जायगा कि वह कितने पानी में है. यह काम न सिर्फ़ डरपोकों का था बल्कि अहमकों का भी"

मुजाहिदे आज़म का मुँह लटक गया.

"इस बेरहमी के क़त्ल से तुम्हें क्या फ़ायदा पहुँचा ?"

"मुझे ? मुझे फ़ायदा क्यों नहीं पहुँचा. संसार से मेरा एक दुश्मन उठ गया. क्या यह फ़ायदा नहीं ?"

"आहा हाहा !" आवाज़ ने हंसते हुए कहा—"अगर तुम्हारा यही ख़याल है तो तुम बच्चे हो और बेवक़ूफ़ हो. तुम यू० एन० ओ० के पास जा रहे हो. तुम्हारे इसी काम ने तुम्हारे नंगे रूप में तुम्हें वहशी साबित कर दिया है. अब इस बात में कोई शक नहीं रहा कि तुम लोग सिर्फ़ मज़हबी दीवाने हो.'

"यह ग़लत है. ऐसा कभी नहीं हो सकता."

"तुम पर चढ़ा मज़हबी रंग तो देर हुई जब साबित हो गया था.

"मुस्लिम रियासत और मुस्लिम हुकूमत' का नारा ही इस बात की दलील हैं. अपने विचारों से मेल न खाने वाली राय तुम दबी ज़बान से भी सुनना नहीं चाहते चाहे वह किसी मुसलमान ही की आवाज़ क्यों न हो. अगर ऐसा न होता तो आज शोऐब शहीद न होता. क्यों ? अब चुप क्यों हो गए ? यही है तुम्हारा फ़ासिस्ट कैरेक्टर. तुम मज़हबी दीवाने हो. तुम मुतअस्सिब हो इसलिए तुम खुद नहीं जानते कि क्या

कर रहे हो. तुम पागलपन के हुक्म देना जानते हो और तुम्हारे रज़ाकार, उसे आंखें और कान बंद करके मानना."

'क्या कहा ! पागलपन ! तुम इसे पागलपन कहते हो !

"हाँ मैं पागलपन कहता हूँ. तुम मुझे डरा और धमका नहीं सकते. मैं बुज़दिल और कमज़ोर नहीं हूँ. तुमने कहा—'ग़द्दारों के हाथ काट डालो' और कहने भर की देर थी कि तुम्हारे रज़ाकारों ने इस आज्ञा का आंखें मूंद पालन करना शुरू कर दिया. कितने मजहबी अंधे हो तुम और तुम्हारे रज़ाकार. तुम सोचते भी तो नहीं." मुजाहिदे आज़म के पास इस बात का जवाब कुछ न था.

"ज़रा सोचो दुनिया क्या कहेगी. लोक राए को सोचो.

"क्या इन बातों के बाद भी वह तुमसे हमदर्दी करेंगे ? शायद मतलबी लोग तुम्हारे हक़ में हो भी जाते. पर तुम इस दरजे के फ़ासिस्ट हो और इतने मजहबी पागलपन में रंगे हुए हो कि वह लोग भी कुछ नहीं कर सकते. यू० एन० ओ० के हां भी तुमने अपनी बाज़ी ख़ुद अपने हाथों उलट दी. तुमने ख़ुद मुसीबत को आने के लिए दावत दी है. हिन्दुस्तान अपनी फ़ौजें अब भेजेगा"

"वह ऐसा नहीं कर सकते !"

"क्यों नहीं कह सकते ! जब रियासत में प्रजा के जान व माल की हिफ़ाज़त नहीं हो रही तो इसके सिवा उनके पास चारा ही क्या है ?"

"लेकिन मैं बनियों और ब्राह्मणों से डरने वाला नही हूँ."

"हा ! हा ! हा ! आहा हाहा हा ! तो जाओ, मैदाने जंग में जाकर अपने आपको आज़मा देखो. तुम मुझसे झूट बोलने की कोशिश करते हो !"

मुजाहिदे आज़म के काटो तो लहू नहीं था. उसका चेहरा काला और डरावना दिखाई देने लगा. हर घड़ी वह चेहरा और भी भयंकर होता गया. अपनी आत्मा की आवाज़ को कौन देर तक कुचले रख सकता है. जीत उसी की हुई. बाज़ी आत्मा के हाथ रही. हम नहीं

जानते कि वह कितनी देर तक वहाँ तड़पता रहा और चिल्लाता रहा. आत्मा का बोझ उसे पहाड़ की तरह महसूस होता था और आखिरी समय का डर उसके दिल पर बुरी तरह छा गया था. पर हमें इतना मालूम है कि जब पहरेदार ने कमरे में आकर 'मुजाहिदे आज़म' कहा तो वह खीज कर चीख उठा 'नरक में चला गया है मुजाहिदे आज़म' और वह संतरी तो यहाँ तक कहता है कि उसकी अपनी आँखों के सामने से मुजाहिदे आज़म दूर परे हटता गया. और दूर, और दूर यहाँ तक कि हवा के परदों में वह घुल मिल कर ओझल हो गया.

पर क्या यह सच है? हाँ सोलह आने सच. वह गधे के सिर से सींग की तरह ग़ायब हो रहा है और वह दिन दूर नहीं जब हम अपने कानों से सुनेंगे कि आखिर वह अपनी मंज़िल पर पहुँच ही गया. उसकी आखिरी मंज़िल यानी —जहन्नुम.

और शोऐब!

वह हर हैदराबादी के दिल में हमेशा के लिये अपनी जगह बना कर बैठ गया है.

[अनुवादक श्री जितेन्द्र कौशिक]

—

बापू

आख़िरी श्रद्धांजलि

[पंडित जवाहरलाल नेहरू का वह तारीख़ी भाषन जो उन्होंने १२ फ़रवरी '४८ को इलाहाबाद में संगम के किनारे दिया था.]

आख़िरी सफ़र ख़तम हो गया है और इस पवित्र सफ़र की आख़िरी मंज़िल भी तय हो चुकी है. देश की इस लम्बी चौड़ी धरती पर गांधी जी पचास साल तक घूमते रहे. उन्होंने हिमालय पर्वत, उत्तरी-पच्छिमी सरहदी सूबा और उत्तर व पूरब में ब्रह्मपुत्र नदी से लेकर दक्खिन में कन्या कुमारी तक सफ़र किया और वह इस देश के एक-एक भाग और एक-एक कोने में गये. एक यात्री और यात्रा का आनन्द लेने वाले के रूप में नहीं बल्कि इस देश के निवासियों की हालत और मुशकिलों को समझने और उनकी सेवा करने के लिये. शायद इतिहास किसी ऐसे व्यक्ति का नाम नहीं पेश कर सकता जिसने गांधी जी की तरह इस देश के कोने-कोने का सफ़र किया हो, जनता की हालत को उनकी तरह समझा हो और उनकी तरह लगातार सेवा करता रहा हो. लेकिन अब इस दुनिया में उनका सफ़र ख़तम हो गया है. हालाँकि हमें अभी कुछ दिनों और सफ़र करना है. बहुत से लोग रंज और मातम कर रहे हैं और

यह मुनासिब और कुदरती बात भी है. लेकिन सवाल यह है कि आखिर हम मातम क्यों करें ? क्या हम गांधी जी का दुख मना रहे हैं, या किसी और चीज़ का ? उनके जीवन की तरह उनकी मौत में भी एक ऐसी चमक मौजूद है जो आने वाले ज़माने में सदियों तक हमारे देश को रोशन करती रहेगी. फिर हम गांधी जी के लिये शोक क्यों मनायें ? हमें तो अपने लिये रोना चाहिये. अपनी कमज़ोरियों पर शोक मनाना चाहिये. हमें अपनी छाती तो अपने दिलों की सियाही, अपने मतभेदों, अपने झगड़ों के लिये पीटनी चाहिये. याद रखिये कि गांधी जी ने हमारी इन्हीं बुराइयों को दूर करने के लिये अपनी जान दी है और पिछले कुछ महीनों में उन्होंने पूरा ध्यान और सारी शक्ति इसी पर लगाई है. अगर हम उनकी इज़्ज़त करते है तो मैं पूछता हूँ कि यह इज़्ज़त उनके नाम की होनी चाहिये या उन सिद्धान्तों की जिनकी गांधी जी वकालत करते रहे हैं, उन तालीमों और सलाहों की जो वह देते रहे हैं और ख़ास तौर पर उस बात की जिसके लिये गांधी जी ने अपनी जान दी है.

आज गंगा के किनारे पर खड़े हुए हमें अपने दिलों को टटोलना और अपने आपसे यह सवाल करना चाहिये कि हम गांधी जी के बताये हुए रास्ते पर कहाँ तक चले हैं और हमने दूसरों के साथ शान्ति और सहयोग के साथ जीवन बिताने की किस हद तक कोशिश की है ? अगर आज भी हम सीधा रास्ता अपना लें तो यह चीज़ हमारे देश के लिये बहुत ही अच्छी होगी.

हमारे देश ने एक महान इन्सान को जन्म दिया था और यह व्यक्ति हिन्दुस्तान ही के लिये नहीं बल्कि सारी दुनिया के लिये रोशनी की हैसियत रखता था. लेकिन उसे हमारे भाइयों और हमारे देश वासियों ने मौत के घाट उतार दिया. ऐसा क्यों हुआ ? आप कहेंगे कि यह एक पागलपन का काम था लेकिन इससे इस दुर्घटना की व्याख्या नहीं हो सकती. बल्कि यह दुर्घटना सिर्फ़ इसलिये हो सकी कि इसका बीज नफ़रत और दुश्मनी के ज़हर में बोया गया था. फिर उस पेड़ की जड़ें सारे देश में फैल गईं और इससे हमारी क़ौम के बेशुमार लोगों पर असर पड़ा. इसी बीज से यह ज़हरीला पौधा पैदा हुआ. इसलिये हमारा फ़र्ज़ है कि हम नफ़रत और अविश्वास के इस ज़हर का मुक़ाबला करें. अगर हमने गांधी जी से कोई सबक़ लिया है तो हमें अपने दिल में किसी व्यक्ति की तरफ़ से भी नफ़रत और दुशमनी नहीं रखनी चाहिये. हमारा दुशमन कोई एक व्यक्ति नहीं बल्कि हमारा दुशमन तो वह ज़हर है जो लोगों के अन्दर मौजूद है. हम उसी का मुक़ाबला करते हैं और हमें उसी को ख़तम करना चाहिये. हम निर्बल और कमज़ोर हैं लेकिन एक हद तक गांधी जी की शक्ति भी हमारे साथ शामिल हो गई है. उनकी जीत और फ़तेह की परछाइयाँ हमारी शारीरिक शक्ति बढ़ाने का कारन भी बनी हैं. ताक़त और बड़ाई उन्हीं की थी और वह रास्ता भी जो उन्होंने हमें दिखाया था, उन्हीं का रास्ता था. हम उस रास्ते पर चलते और गांधी जी की ख़ाहिश के अनुसार अपने देशवासियों की सेवा करने

की कोशिश करते हुए बार-बार डगमगाये और अकसर गिर भी पड़े.

अब हमारी ताक़त का सहारा मौजूद नहीं. लेकिन मुझे यह बात नहीं कहनी चाहिये. आज यहाँ जो दस लाख आदमी मौजूद हैं उनके दिल में गांधी जी की मूर्ती रक्खी हुई है और हमारे वह करोड़ों देशवासी भी जो यहाँ मौजूद नहीं हैं उन्हें कभी भूल नहीं सकते. फिर आने वाली वह पीढ़ियाँ भी, जिन्होंने न तो उन्हें देखा है और न अभी तक उनके बारे में कुछ सुना है, इस मूर्ती को अपने दिल में जगह देंगी क्योंकि अब यह मूर्ती हिन्दुस्तान की विरासत और तारीख़ का एक अंश बन गई है. आज से तीस या चालीस साल पहले वह ज़माना शुरू हुआ था जिसे 'गांधी युग' के नाम से याद किया जाता है और आज यह युग ख़तम होगया..... लेकिन नहीं, मैंने यह बात ग़लत कही है क्योंकि यह युग ख़तम नहीं हुआ बल्कि शायद यह युग सच्चे मानी में अब शुरू हुआ है. लेकिन किसी हद तक बदले हुए रूप में. उस वक़्त तक हम सलाह और सहायता के लिये उनकी तरफ़ देखते रहते थे लेकिन अब आगे हमें अपने पैरों पर खड़ा होना और अपनी जान पर भरोसा करना पड़ेगा. हमारी ख़ाहिश है कि उनकी याद हमारे अन्दर अमल का जज़्बा पैदा करे और उनकी तालीम हमारे रास्ते को रोशन करती रहे. हमें उनके इस बार-बार दिये हुए संदेश को याद रखना चाहिये कि—अपने दिलों से डर और झगड़े फ़साद के भाव को निकाल दो, हिंसा को ख़तम कर दो और आपस के

झगड़ों को सदा के लिये भुला कर अपने देश की आज़ादी को बनाये रक्खो.

गांधी जी हमें आज़ादी की मंज़िल तक लाये और इस मंज़िल तक पहुँचने के लिये जो रास्ता अपनाया, दुनिया उसे देख कर हैरान रह गई. लेकिन आज़ादी मिलने के बाद उसी छन हमने अपने गुरू की शिक्षा को भुला दिया. हैवानियत और बरबरियत की एक लहर ने हमारी क़ौम पर क़ाबू पा लिया और सारी दुनिया में हिन्दुस्तान के उजले और ख़ूबसूरत नाम को बट्टा लग गया. हमारे बहुत से नौजवान बहक कर ग़लत रास्ते पर पड़ गये. क्या हमें उन्हें अपने दायरे से निकाल देना या कुचल डालना चाहिये ? नहीं ! वह हमारी ही क़ौम के लोग हैं. हमें उनके ग़लत विचारों को बदल कर उन्हें सही विचारों के साँचे में ढालना और उनको सही शिक्षा देनी चाहिये.

अगर हम होशियार न रहे और हमने वक़्त पर सही क़दम न उठाया तो फ़िरक़ापरस्ती का वह ज़हर, जो हमारी मौजूदा तबाही का कारन बना है, हमारी आज़ादी को ही ख़तम कर देगा. दो तीन हफ़्ता पहले गांधी जी ने आख़िरी बार जो व्रत शुरू किया था उसका मक़सद यही था कि हम ग़फ़लत की नींद से जाग कर उस ख़तरे को देख सकें, जो हमारे सरों पर मँडरा रहा है. उनकी इस अपनी मर्ज़ी से की हुई सरफ़रोशी ने क़ौम की आत्मा को जगा दिया था और हमने उनके सामने इस बात का वचन दिया था कि अब हम अच्छे रास्ते पर चलेंगे और

हमारे इस यक़ीन दिलाने के बाद ही वह व्रत तोड़ने पर राज़ी हुए थे.

गांधी जी हफ़्ते में एक दिन ख़ामोश रहा करते थे. लेकिन अब वह आवाज़ हमेशा के लिये ख़ामोश हो गई और यह मौन सदा के लिये रहेगा. लेकिन फिर भी वह आवाज़ इस वक़्त भी हमारे कानों में आ रही है और हमारे दिल उसे सुन रहे हैं. हमारे देश-वासी हमेशा दिल के कानों से इस आवाज़ को सुनते रहेंगे. इतना ही नहीं, बल्कि यह आवाज़ हज़ारों साल तक हिन्दुस्तान की सरहद के पार भी गूंजती रहेगी. क्यों ? इस लिये कि यह आवाज़ सचाई की थी और अगरचे कभी कभी सचाई की आवाज़ को दबा भी दिया जाता है लेकिन इसे ख़तम नहीं किया जा सकता. गांधी जी के नज़दीक हिन्सा सच्चाई के उलटे रूप की हैसियत रखती थी इसलिये उन्हों ने हमारे सामने अमली हिन्सा की ही नहीं बल्कि दिल और दिमाग़ में हिन्सा का ख़याल लाने के ख़िलाफ़ भी प्रचार किया. अगर हम अपने बीच ज़ाहिर होने वाली हिन्सा को बन्द न करेंगे, एक दूसरे के मुक़ाबले में इन्तहाई सब्र व बरदाश्त और दोस्ती का सबूत न देंगे तो एक क़ौम की हैसियत से हमारा भविष्य बिलकुल तारीक हो जायगा. हिन्सा के रास्ते में मुसीबतें हैं और जहाँ हिन्सा काम करती है वहाँ आज़ादी की देवी आम तौर से बहुत दिनों तक नहीं टिकती. अगर हमारे बीच हिन्सा का जज़्बा और आपसी झगड़े मौजूद हैं तो स्वराज्य और जनता की आज़ादी का ज़िक्र एक बेमानी बात है.

इस मजमे में मुझे हिन्दुस्तानी फ़ौज के बहुत से सिपाही भी नज़र आरहे हैं. उनके लिये इस मुल्क की सरहदों और इज्ज़त की हिफ़ाज़त करना एक गौरव का काम है. लेकिन वह यह काम उसी वक़्त कर सकते हैं जब वह एक होकर काम करें. अगर खुद उनके बीच मतभेद पैदा हो गया तो फिर उनकी ताक़त की क्या क़द्र व क़ीमत बाक़ी रह सकती है, और वह किस तरह अपने देश की सेवा कर सकते हैं.

लोकशाही आपस में संगठन, संयम और एक दूसरे का लेहाज़ रखने को माँग करती है और आज़ादी का तक़ाज़ा यह है कि दूसरों की आज़ादी का भी आदर किया जाय. लोकशाही सरकारों के मातहत जो तबदीलियाँ की जाती हैं वह आपस की बात चीत और रज़ामंदी के तरीक़े पर की जाती हैं. हिंसा के साधन इस्तेमाल करके नहीं की जातीं. अगर किसी सरकार को जनता की हिमायत हासिल नहीं होती तो दूसरी सरकार, जिसे यह हिमायत हासिल होती है, उसकी जगह ले लेती है. हाँ कुछ छोटी-छोटी पार्टियाँ, जिन्हें जनता का समर्थन और हिमायत हासिल नहीं होती, वह हिंसा की कारवाइयाँ करने पर उतर आती हैं और अपनी हिमाक़त के कारन यह समझती हैं कि इस तरह वह अपने मक़सद को हासिल कर लेंगी. उनका यह ख़याल सिर्फ़ ग़लत ही नहीं बल्कि बेवक़ूफ़ी से भी भरा होता है, क्योंकि इन थोड़े से लोगों की इस हिंसा का जिससे वह ज़्यादा लोगों को डराने की कोशिश करती हैं, यह नतीजा होता है कि ज़्यादा लोग भी जोश में आकर हिंसा पर उतर आते हैं.

इस जबरदस्त दुर्घटना के होने का कारन यह है कि बहुत से लोगों ने, जिनमें कुछ बड़ी हैसियत के लोग भी हैं, हमारे देश की हवा को ज़हरीला बना दिया है. सरकार और जनता का फ़र्ज़ है कि वह इस जहर के असर की जड़ तक उखाड़ कर फेंक दे. हमने यह सबक़ इतनी क़ीमत अदा करने के बाद हासिल किया है जिसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती. क्या इस वक़्त भी यहाँ हमारे बीच कोई ऐसा व्यक्ति मौजूद है जो गांधी जी के बाद भी उनका मिशन पूरा करने के लिये प्रतिज्ञा न करेगा ? उस मिशन को पूरा करने की प्रतिज्ञा, जिसके लिये हमारे देश की ही सबसे बड़ी हस्ती नहीं बल्कि दुनिया की सबसे बड़ी हस्ती ने अपनी जान क़ुरबान कर दी.

आप, मैं ग़रज़ कि हम सब अपने देश की इस पवित्र जमुना नदी के रेतीले मैदान से अपने अपने घर चले जायँगे, हमें तनहाई और उदासी महसूस होगी और अब हम फिर कभी गांधी जी को न देख सकेंगे. जब कभी हमारे सामने कोई अहम सवाल आ जाता था, जब किसी मामले में कोई शक व शुबह पैदा हो जाता था तो हम सलाह और रहनुमाई हासिल करने के लिये गांधी जी के पास चले आते थे, लेकिन अब हमें सलाह देने और हमारे बोझ को हलका करने के लिये कोई हस्ती मौजूद नहीं. फिर अकेला मैं या चन्द लोग ही गांधी जी की मदद हासिल करने के लिये उनकी तरफ नहीं देखते थे बल्कि इस देश के हजारों नहीं बल्कि लाखों आदमी उन्हें अपना दोस्त और सलाहकार समझते थे. हम लोग महसूस करते हैं कि

उनके सामने हमारी हैसियत बच्चों जैसी थी. वह सही तौर पर क़ौम के बाप कहलाते थे और आज करोड़ों घरों में इसी तरह शोक मनाया जा रहा है जिस तरह अपने प्यारे बाप की मौत पर मनाया जाता है.

हाँ, तो हम नदी के इस किनारे से उदास और ग़मगीन वापस जायँगे लेकिन हम इस बात पर फ़ख़्र भी करेंगे कि हमें अपने सरदार, अपने रहनुमा, अपने दोस्त और उस महापुरुष को देखने, उसके साथ रहने, उससे बात करने और उसे उसकी आख़िरी मंज़िल तक पहुंचाने का गौरव प्राप्त हुआ है जिसने हमें आज़ादी और सच्चाई के रास्ते की इन्तहाई ऊँचाई पर पहुँचाया था. संघर्ष और जद्दोजेहद का रास्ता भी, जो गांधी जी ने हमें बताया था, सच्चाई का ही रास्ता था. इस बात को भूलना नहीं चाहिये कि उन्होंने हमें जो राह दिखाई थी, वह हिमालय की चोटियों पर ख़ामोशी के साथ बैठने की राह नहीं बल्कि नेकी के लिये बुराई के साथ जंग करने की राह थी. इसलिये हमें मैदान से बच निकलने और आराम करने की राहें तलाश करने के बजाय लड़ते रहना चाहिये. हमें अपना फ़र्ज़ अदा करना और उस अहद को पूरा करना है जो हमने गांधी जी के सामने किया था. हमें सच्चाई और धर्म के रास्ते पर चलना चाहिये और हिन्दुस्तान को एक ऐसा महान देश बना देना चाहिये जहाँ विश्वास और शान्ति की हवा मौजूद हो और धर्म व जाति के भेद भाव के बग़ैर हर मर्द और औरत इज़्ज़त और आज़ादी का जीवन बिता सके.

हम कितनी बार महात्मा जी को जय का नारा बुलन्द करते हैं और यह नारा लगाकर हम ख़याल कर लेते हैं कि हमने अपना फ़र्ज़ अदा कर दिया है. गांधी जी को इस शोर गुल से हमेशा तकलीफ़ महसूस होती थी क्योंकि वह जानते थे कि यह नारा बेहक़ीक़त है और कभी कभी काम करने और सोच विचार करने की जगह भी नारों को ही दी जाती थी. महात्मा जी की जय का मतलब है महात्मा जी की जीत हो. लेकिन हम गांधी जी के लिये किस जीत की तमन्ना कर सकते हैं ? उन्हें तो जिन्दगी और मौत दोनों में जीत हासिल हुई. अब तो आपको, मुझे और इस बदनसीब मुल्क को विजय हासिल करने के लिये संघर्ष की ज़रूरत है.

जिन्दगी भर गांधी जी हिन्दुस्तान के ग़रीबों और दबी कुचली हुई जनता को निगाह से देखते रहे. उनकी ज़िन्दगी का मिशन उनको ऊँचा उठाना और आज़ाद कराना था. उन्होंने अपनी ज़िन्दगी को उन्हीं जैसा बना लिया और उन्हीं जैसा लिबास पहनने लगे, जिसमें कि मुल्क से छोटे बड़े का भेद उठ जाय. गांधी जी की जय का मतलब दर असल उन लोगों की आज़ादी और तरक़्क़ी ही है.

गांधी जी हमारे लिये किस तरह की जीत और कामयाबी चाहते थे ? वह जीत और कामयाबी नहीं जिसे हासिल करने के लिये बहुत सी क़ौमें और देश हिंसा, धोका व फ़रेब और बुराइयों के ज़रिये इख़तियार कर रहे हैं. इस तरह की जीत टिकाऊ नहीं होती. टिकाऊ जीत और विजय की बुनियाद तो सच्चाई की चट्टान पर ही रक्खी जा सकती है. गांधी जी ने हमें आज़ादी की लड़ाई के ढंग

और डिपलोमेसी की नई राह दिखाई है और उन्होंने राजनीति में सचाई, आपस का विश्वास और अहिंसा का इस्तेमाल करके दुनिया को अपने तजरबे की कामयाबी दिखलादी है. उन्होंने हमें सियासी और मजहबी विश्वासों के अलग-अलग होने के बावजूद एक हिन्दुस्तानी और शहरी होने के नाते हर इन्सान की इज्जत करने और उसके साथ सहयोग करने का सबक़ दिया है. हम सब भारत माता के बेटे हैं और हमें इसी देश में जीना और यहीं मरना है. हमने जो आज़ादी हासिल की है उसमें हम सब बराबर के शरीक हैं और आज़ाद हिन्दुस्तान तरक़्क़ी की जो सुविधायें पहुँचा सकता है और आज़ादी के कारन जो फ़ायदे हो सकते हैं, हमारे देश के सारे निवासियों का उनपर बराबर का हक़ है. गांधी जी ने कुछ चुने हुए लोगों के फ़ायदे के लिये ही यह लड़ाई नहीं लड़ी थी और न उनके जान देने का मक़सद ही यह है. हमें गांधी जी के ही बताये हुए रास्ते पर चलकर उन्हीं के मक़सदों को पूरा करने की कोशिश करनी चाहिये. उसी समय हम अपने को 'गांधी जी की जय' का नारा लगाने का सही अधिकारी साबित कर सकेंगे.

———

श्री रतन लाल बंसल की दूसरी किताब—

मुस्लिम देशभक्त

गङ्गादीन जायसवाल ने श्याम प्रिन्टिंग प्रेस,

इलाहाबाद. में छापा.